पातंजल योग सूत्र
योग दर्शन

योग की मान्यतानुसार 'प्रकृति' तथा 'पुरुष' (चेतन आत्मा) दो भिन्न तत्व हैं जो अनादि हैं। इन दोनों के संयोग से ही इस समस्त जड़, चेतनमय सृष्टि का निर्माण हुआ है। प्रकृति जड़ है जो सत्व, रज तथा तम तीन गुणों से युक्त है। इसके साथ जब चेतना (पुरुष) का संयोग होता है तब उसमें हलचल होती है तथा सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। यह 'प्रकृति दृश्य' है तथा 'पुरुष दृष्टा' है। इस सृष्टि में सर्वत्र प्रकृति ही दिखाई देती है, पुरुष कहीं दिखाई नहीं देता किन्तु प्रकृति का यह सम्पूर्ण कार्य उस पुरुष तत्व की प्रधानता से ही हो रहा है। ये दोनों इस प्रकार संयुक्त हो गये हैं कि इन्हें अलग-अलग पहचानना कठिन है। इसका कारण अविद्या है। 'पुरुष' सर्वज्ञ है तथा प्रकृति के हर कण में व्याप्त होने से वह सर्वव्यापी भी है। जीव भी इन दोनों के ही संयोग का परिणाम है। उस 'पुरुष' को शरीर में 'आत्मा' तथा सृष्टि में 'विश्वात्मा' कहा जाता है।

॥ ॐ श्री गोविन्दाय नमः ॥

महर्षि पतंजलि कृत

पातंजल योग सूत्र

योग दर्शन

(मूल, पदच्छेद, अनुवाद एवं व्याख्या)

व्याख्याकार :

श्री नन्दलाल दशोरा

मूल्य : ९०.००

सजिल्द : १२०.००

रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार

प्रकाशक : **रणधीर प्रकाशन**
रेलवे रोड (आरती होटल के पीछे)
हरिद्वार (उ. प्र.) पिन : २४९४०१
फोन : (०१३३) ४२६२९७, ४२६१९५

वितरक : **रणधीर बुक सेल्स**
रेलवे रोड, हरिद्वार (उ.प्र)
फोन : ४२८५१०

मुख्य विक्रेता ; १. **गगनदीप पुस्तक भण्डार**
एस.एन. नगर, (निकट हरमिलाप भवन)
हरिद्वार (उ.प्र.)
२. **सचदेवा बुक डिपो**
५, गोविन्दपुरी, हरिद्वार (उ.प्र)

लेखक : **श्री नन्दलाल दशोरा**

संस्करण : **तृतीय, 1997**

शब्द सज्जा : **जे के प्रिन्टोग्राफर्स,** दिल्ली-११०००६
फोन : २९३३९९५, २३९०२३

मुद्रक : **राजा ऑफसेट प्रिंटर्स**
विकास मार्ग, दिल्ली-११००९२

ISBN · 081-86955-17-8

PATANJAL YOG SUTRA
YOG DARSHAN

Translated By . Nand Lal Dashora
Published By Randhir Prakashan, Hardwar (India)

भूमिका

योग का अर्थ है 'मिलना', 'जुड़ना', 'संयुक्त होना' आदि। जिस विधि से साधक अपने प्रकृति जन्य विकारों को त्याग कर अपनी आत्मा के साथ संयुक्त होता है वही 'योग' है। यह आत्मा ही उसका निज स्वरूप है तथा यही उसका स्वभाव है। अन्य सभी स्वरूप प्रकृति जन्य हैं जो अज्ञानवश अपने ज्ञात होते हैं। इन मुखौटों को उतारकर अपने वास्तविक स्वरूप को उपलब्ध हो जाना ही योग है। यही उसकी 'कैवल्यावस्था' तथा 'मोक्ष' है। योग की अनेक विधियाँ हैं। कोई किसी का भी अवलम्बन करे अन्तिम परिणाम वही होगा। विधियों की भिन्नता के आधार पर योग के भी अनेक नाम हो गये हैं जैसे—राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, संन्यासयोग, बुद्धियोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, बिन्दुयोग, ध्यानयोग, क्रियायोग आदि किन्तु सबका एक ही ध्येय है उस पुरुष (आत्मा) के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित करना। महर्षि पतंजलि का यह योग दर्शन इन सब में श्रेष्ठ एवं ज्ञानोपलब्धि का विधिवत् मार्ग बताता है जो शरीर, इन्द्रियों तथा मन को पूर्ण अनुशासित करके चित्त की वृत्तियों का निरोध करता है। पतंजलि चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही 'योग' कहते हैं क्योंकि इनके पूर्ण निरोध से आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। इस निरोध के लिए वे अष्टाँग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं) का मार्ग बताते हैं जो निरापद है। इसलिए इसे

अनुशासन कहा जाता है जो परम्परागत तथा अनादि है। इसके मार्ग पर चलने से किसी प्रकार का भय नहीं है तथा कोई अनिष्ट भी नहीं होता, न मार्ग में कहीं अवरोध ही आता है। जहाँ-जहाँ अवरोध आते हैं उनका इस ग्रंथ में स्थान-स्थान पर वर्णन कर दिया है जिससे साधक इनसे बचता हुआ अपने गन्तव्य तक पहुँच सकता है।

योग की मान्यतानुसार 'प्रकृति' तथा 'पुरुष' (चेतन आत्मा) दो भिन्न तत्व हैं जो अनादि हैं। इन दोनों के संयोग से ही इस समस्त जड़ चेतन मय सृष्टि का निर्माण हुआ है। प्रकृति जड़ है जो सत्व, रज तथा तम तीन गुणों से युक्त है। इसके साथ जब चेतना (पुरुष) का संयोग होता है तब उसमें हलचल होती है तथा सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। यह 'प्रकृति दृश्य' है तथा 'पुरुष दृष्टा' है। इस सृष्टि में सर्वत्र प्रकृति ही दिखाई देती है, पुरुष कहीं दिखाई नहीं देता किन्तु प्रकृति का यह सम्पूर्ण कार्य उस पुरुष तत्व की प्रधानता से ही हो रहा है। ये दोनों इस प्रकार संयुक्त हो गये हैं कि इन्हें अलग-अलग पहचानना कठिन है। इसका कारण अविद्या है। 'पुरुष' सर्वज्ञ है तथा प्रकृति के हर कण में व्याप्त होने से वह सर्व-व्यापी भी है। जीव भी इन दोनों के ही संयोग का परिणाम है। उस 'पुरुष' को शरीर में 'आत्मा' तथा सृष्टि में 'विश्वात्मा' कहा जाता है जिसे योग दर्शन में 'पुरुष विशेष' कहा है। इसलिए यह सेश्वर दर्शन है।

यह त्रिगुणात्मक प्रकृति 'अलिंग' स्वरूप 'अव्यक्त अवस्था में रहती है। जब इस चेतन पुरुष में सृष्टि विस्तार का संकल्प होता है तो वह इस माया स्वरूपा प्रकृति का स्वेच्छा से वरण करता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—"हे अर्जुन! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतन रूप बीज का स्थापन करता हूँ। उस जड़-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।" (गीता १४/३)। इसी प्रकृति और

पुरुष के संयोग के परिणाम स्वरूप 'महत्तत्व' (चित्त) की उत्पत्ति होती है जो इसकी प्रथम सन्तान है। इसके शरीरस्थ स्वरूप को 'चित्त' तथा सृष्टि में इसे 'महत्तत्व' कहा जाता है जो लिंग मात्र अवस्था में रहता है। प्रकृति के इन तीन गुणों के तीन धर्म हैं। सत्व गुण का धर्म 'प्रकाश-ज्ञान' है, रजोगुण का धर्म 'क्रिया-गति' है तथा तमोगुण का धर्म 'जड़ता-स्थिति-सुषुप्ति' है। इसी चित्त में अहंकार उत्पन्न होता है जिससे वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता मानने लगता है। यही उसकी 'अस्मिता' है। इसी अहंकार से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ तथा महाभूतों की रचना होती है तथा इन गुणों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया स्वरूप अन्य तत्वों का निर्माण होता है।

प्रकृति तथा पुरुष के संयोग के कारण जिस क्रम से जीव का विकास होता है, उसके उल्टे क्रम से चलने पर अंतिम स्तर पर पहुँचकर साधक को पुनः इन दोनों की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है तथा यह भी ज्ञान हो जाता है इस संयोग का कारण अविद्या अथवा अज्ञान है। जब इस अज्ञान का आवरण हटता है तभी साधक को अपने वास्तविक स्वरूप उस चेतन आत्मा का ज्ञान होता है। इसके बाद प्रकृति अपने कारण में लय हो जाती है तथा आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। यही उसका 'कैवल्य' तथा 'मोक्ष' है जिसे प्राप्त कर वह सदा के लिए इस जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाता है। इसी को 'योग' कहा जाता है। गीता में कहा है, "**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम**"। (गीता १५/६) जीव की उत्पत्ति उस चैतन्य आत्मा से है तथा पुनः उसी को उपलब्ध हो जाना उसकी अंतिम परिणति है, यही उसका गन्तव्य स्थान है।

यह योग दर्शन अपने आप में पूर्ण, सार्वभौम एवं वैज्ञानिक है। इसमें न सम्प्रदाय की बू है, न धार्मिक संकीर्णता। इसका प्रयोग देश, काल, धर्म, जाति, लिंग आदि की भिन्नता को ध्यान में रखे बिना किया

जा सकता है। यह मानव जाति की अमूल्य धरोहर है किन्तु साधकों को इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार तैरना सीखने के लिए पुस्तकीय ज्ञान काम नहीं आता, उसे तो पानी में कूदकर ही प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार किसी भी ग्रन्थ को पढ़ लेने मात्र से आत्मज्ञान नहीं होता तथा बिना आत्मज्ञान के मुक्ति नहीं होती। इस ज्ञान को किसी गुरु के मार्ग-दर्शन में स्वयं ही प्राप्त करना पड़ता है। सभी ग्रन्थ केवल मार्ग दर्शन ही करते हैं, चलना तो स्वयं को ही पड़ेगा। पहुँचने के लिए साधना आवश्यक है। इस ग्रन्थ में दिखाया गया मार्ग अपने आप में पूर्ण है। जो इसके अनुसार बढ़ता है उसको इसका अन्तिम फल 'मोक्ष' की उपलब्धि अवश्य होती है यह निश्चित है।

इस ग्रन्थ की व्याख्या का उद्देश्य सामान्य जनों में योग साधना के प्रति रुचि जाग्रत हो तथा वे इसके मार्ग पर चलने को तत्पर हो जायें। इसलिए इसमें शब्दार्थों पर अधिक जोर न देकर उसे पाठ्य-पुस्तक बनाने की अपेक्षा भावों को प्रधानता दी गई है जिससे यह कठिन विषय बोधगम्य हो सके।

अन्त में मैं उन सबका आभारी हूँ जिनकी ज्ञात तथा अज्ञात प्रेरणा एवं मार्ग दर्शन से इसे पूर्ण करने में मुझे सहायता मिली है।

—अनुवादक

विषय-सूची

समाधि पाद

सूत्र—१

अथ योगानुशासनम्।

अथ=अब; **योगानुशासनम्**=परम्परागत योगविषयक शास्त्र (आरम्भ करते हैं)।

अनुवाद— अब परम्परागत योग विषयक शास्त्र आरम्भ करते हैं।

व्याख्या—योग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यह सम्पूर्ण सृष्टि 'प्रकृति' तथा पुरुष के संयोग की ही अभिव्यक्ति है। इसलिए इसके हर कण में वह पुरुष (चेतन) तत्व व्याप्त है। प्रकृति जड़ है जो पुरुष के संयोग से ही अपनी अभिव्यक्ति की क्षमता प्राप्त करती है। जीव का विकास भी इन दोनों के संयोग का ही परिणाम है। ये दोनों तत्व इस प्रकार संयुक्त हैं कि इनकी भिन्नता का ज्ञान सामान्य जन को नहीं होता। प्रकृति 'दृश्य' है तथा पुरुष 'दृष्टा'। जीव में जो आत्म तत्व है वही पुरुष है तथा प्रकृति को उसने अपने कार्य सम्पादन के लिए ग्रहण किया है इसलिए इस जीव का वास्तविक स्वरूप उसकी यह चैतन्य स्वरूप आत्मा ही है जिसने प्रकृति को अपना माध्यम बनाया है। जीव में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शरीर, इन्द्रियाँ आदि इन दोनों के संयुक्त रूप का प्रतिफल है। 'चित्त' इन दोनों के संयोग का प्रथम रूप है जिसमें एक

ओर सांसारिक भोग की वासनाएँ निहित हैं तथा दूसरी ओर यह 'पुरुष' की ओर आकर्षित होकर जीव के लिए मुक्ति का मार्ग दिखाता है। यही उसकी 'अविद्या' तथा 'विद्या' शक्ति है। अविद्या ही जीव को संसार के भोगों की ओर आकर्षित करती है किन्तु इसका विनाश होने पर मनुष्य में विद्या जनित संस्कार दृढ़ होकर उसे मुक्ति दिलाते हैं। इस स्थिति में वह चैतन्य आत्मा प्रकृति के साथ अपने संयोग को छोड़कर पुनः अपने रूप में स्थित हो जाती है। यही जीव की 'कैवल्य' अथवा 'मोक्ष' की अवस्था है।

यह योग दर्शन उन समस्त विधियों का प्रतिपादन करता है जिससे साधक अपने प्रकृतिजन्य समस्त विकारों को दूर कर उस आत्मा के साथ संयुक्त होता है। इस आत्म स्वरूप की उपलब्धि के लिए वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि का पूर्ण परिशोधन कर उन्हें इस योग्य बना देता है कि वह वास्तविक स्वरूप आत्मा को पहचान सके तथा उसी में स्थित हो जाए। इन सबके लिए एक ही विधि है। "चित्त की वृत्तियों का निरोध" जिनके लिये ये आठ साधन हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इन साधनों के विधिवत् अनुष्ठान से ही मनुष्य उस परम पद को प्राप्त करता है।

महर्षि पतंजलि ऐसे ही समस्त मानवोपयोगी ग्रन्थ योग दर्शन का आरम्भ करते हुए इस प्रथम सूत्र में कहते हैं कि अब इस परम्परागत योग शास्त्र का आरम्भ करते हैं। यह शास्त्र एक अनुशासन है जिससे चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है एवं मनुष्य अपने आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है।

सूत्र—२

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

चित्तवृत्तिनिरोधः=चित्त की वृत्तियों का निरोध (सर्वथा रुक

जाना); **योगः**=योग है।

अनुवाद— *चित्त की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना (निरोध) 'योग' है।*

व्याख्या—इस सूत्र में कहा गया है कि चित्त की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना ही 'योग' है। योग संकल्प की साधना है। यह अपनी इन्द्रियों को वश में कर चेतन आत्मा से संयुक्त होने का विज्ञान है। यह हिन्दू, मुस्लिम, जैन, ईसाई में भेद नहीं करता। यह न शास्त्र है, न धर्म ग्रन्थ। यह एक अनुशासन है मनुष्य के शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि को पूर्ण अनुशासित करने वाला विज्ञान है। चित्त वासनाओं का पुंज है। अनेक जन्मों के कर्म-संस्कार इसमें विद्यमान हैं जिससे हमेशा इसमें वासना की तरंगें उठती रहती हैं। चैतन्य आत्मा इससे परे है। जब तक महासमुद्र में तरंगें उठती रहती हैं तब तक चन्द्रमा का बिम्ब उसमें स्पष्ट दिखाई नहीं देता इसी प्रकार चित्त में वासना की तरंगों के निरन्तर उठते रहने से आत्म-ज्योति का बोध नहीं होता (योग नहीं होता)। इसलिए पतंजलि कहते हैं कि चित्त की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना ही 'योग' है, इसी से चैतन्य आत्मा का ज्ञान होगा तथा इसी ज्ञान से मोक्ष होगा। ये चित्त की वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं जो सदा संसार की ओर ही भागती हैं इसलिए मन सदा चंचल बना रहता है। इन वृत्तियों की तरंगों को सर्वथा रोक देने से ही योग हो जाता है, अन्य कुछ करना नहीं पड़ता। बुद्धि और मन चित्त की ही अवस्थाएँ हैं। इस चित्त-वृत्ति निरोध को 'अमनी-अवस्था' भी कहते हैं। कबीर ने इसे 'सुरति' कहा है। इसके स्थिर होने पर साधक केवल साक्षी या दृष्टा मात्र रह जाता है, वासनाएँ सभी छूट जाती हैं। यही आत्म-ज्ञान की स्थिति है। पतंजलि ने बहुत ही संक्षेप में समस्त योग का सार एक ही सूत्र में रख दिया कि 'चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।' यही सारभूत सत्य है।

सूत्र—३

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

तदा=उस समय; **द्रष्टुः**=द्रष्टा की; **स्वरूपे**=अपने रूप में; **अवस्थानम्**=स्थिति हो जाती है।

अनुवाद— *उस समय दृष्टा (आत्मा) की अपने रूप में स्थिति हो जाती है।*

व्याख्या—आत्मा चैतन्य है। वह दृष्टा एवं साक्षी है। किन्तु वह निष्क्रिय दृष्टा मात्र नहीं है। वह प्रकृतिजन्य किसी भी क्रिया में स्वयं भाग नहीं लेता किन्तु वह सभी क्रियाओं का कारण और उनकी प्रेरक शक्ति है। चित्त की वृत्तियाँ जड़ हैं जिनके निरोध से चैतन्य आत्मा अपने शुद्ध रूप में अवस्थित हो जाती है। यही 'कैवल्य' अथवा 'मोक्ष' की स्थिति है। जिस प्रकार शुद्ध स्वर्ण में मिलावट करने पर विभिन्न प्रकार के स्वर्णाभूषण बनाए जाते हैं किन्तु उसके परिशोधन से मिलावट को निकालकर पुनः शुद्ध स्वर्ण प्राप्त किया जाता है ऐसी ही प्रक्रिया योग की है जिससे प्रकृति अन्य समस्त तत्वों को अलग कर शुद्ध आत्म तत्व की उपलब्धि की जाती है। इसमें आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है जो उसका शुद्ध स्वरूप है।

सूत्र—४

वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

इतरत्र=दूसरे समय में (द्रष्टा का); **वृत्तिसारूप्यम्**=वृत्ति के सदृश स्वरूप होता है।

अनुवाद— *दूसरे समय में (दृष्टा-आत्मा का) वृत्ति के सदृश स्वरूप होता है।*

व्याख्या—जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तभी

आत्मा (दृष्टा) की अपने स्वरूप में स्थिति होती है किन्तु अन्य समय में जब तक उस आत्मा का संयोग वृत्तियों के साथ रहता है उसका स्वरूप वृत्तियों के सदृश होता है। यह आत्मा वृत्तियों के साथ मिलकर वृत्तियों के समान ही अन्य वस्तुओं को देखती है किन्तु स्वयं को नहीं देख सकती। इसे निज स्वरूप का ज्ञान नहीं होता किन्तु जब वृत्तियाँ रुक जाती हैं तभी इसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है इससे पूर्व नहीं। जिस प्रकार आइने में देखने पर आसपास की सभो वस्तुएँ दिखाई देती हैं। किन्तु इन्हें देखने वाली आँख दिखाई नहीं देती तथा देखने वाली आँख के देखने पर अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता इसी प्रकार की दृष्टा (आत्मा) की स्थिति है। चित्त का कारण प्रकृति है तथा इसमें भेद दिखाई देने का कारण बुद्धि है। मोटे तौर पर चित्त की दो ही वृत्तियाँ हैं—वृत्ति सारूप्य तथा वृत्ति वैरूप्य। इसी को 'विद्या' और 'अविद्या' कहते हैं। जब चित्त आत्मा की ओर आकर्षित होता है तो वह 'विद्या' है किन्तु जब वह वृत्तियों के अनुरूप वासना के कारण संसार की ओर आकर्षित होता है तो 'अविद्या' है।

महर्षि पतंजलि ने समस्त योग का सार इन चार ही सूत्रों में समाहित कर दिया। जो इनको ठीक प्रकार से समझ लेता है वह योग को भली भाँति समझ सकता है। आगे के सूत्रों में इन्हीं चारों का विस्तार है।

सूत्र—५

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।

(उपर्युक्त) **क्लिष्टाक्लिष्टाः**=क्लिष्ट और अक्लिष्ट (भेदोंवाली); **वृत्तयः**=वृत्तियाँ; **पञ्चतय्यः**=पाँच प्रकार की (होती हैं)।

अनुवाद— वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं और उनके प्रत्येक के 'क्लिष्ट' और 'अक्लिष्ट' दो-दो भेद हैं।

सूत्र—३

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

तदा=उस समय; **द्रष्टुः**=द्रष्टा की; **स्वरूपे**=अपने रूप में; **अवस्थानम्**=स्थिति हो जाती है।

अनुवाद— *उस समय दृष्टा (आत्मा) की अपने रूप में स्थिति हो जाती है।*

व्याख्या—आत्मा चैतन्य है। वह दृष्टा एवं साक्षी है। किन्तु वह निष्क्रिय दृष्टा मात्र नहीं है। वह प्रकृतिजन्य किसी भी क्रिया में स्वयं भाग नहीं लेता किन्तु वह सभी क्रियाओं का कारण और उनकी प्रेरक शक्ति है। चित्त की वृत्तियाँ जड़ हैं जिनके निरोध से चैतन्य आत्मा अपने शुद्ध रूप में अवस्थित हो जाती है। यही 'कैवल्य' अथवा 'मोक्ष' की स्थिति है। जिस प्रकार शुद्ध स्वर्ण में मिलावट करने पर विभिन्न प्रकार के स्वर्णाभूषण बनाए जाते हैं किन्तु उसके परिशोधन से मिलावट को निकालकर पुनः शुद्ध स्वर्ण प्राप्त किया जाता है ऐसी ही प्रक्रिया योग की है जिससे प्रकृति अन्य समस्त तत्वों को अलग कर शुद्ध आत्म तत्व की उपलब्धि की जाती है। इसमें आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है जो उसका शुद्ध स्वरूप है।

सूत्र—४

वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

इतरत्र=दूसरे समय में (द्रष्टा का); **वृत्तिसारूप्यम्**=वृत्ति के सदृश स्वरूप होता है।

अनुवाद— *दूसरे समय में (दृष्टा-आत्मा का) वृत्ति के सदृश स्वरूप होता है।*

व्याख्या—जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तभी

आत्मा (दृष्टा) की अपने स्वरूप में स्थिति होती है किन्तु अन्य समय में जब तक उस आत्मा का संयोग वृत्तियों के साथ रहता है उसका स्वरूप वृत्तियों के सदृश होता है। यह आत्मा वृत्तियों के साथ मिलकर वृत्तियों के समान ही अन्य वस्तुओं को देखती है किन्तु स्वयं को नहीं देख सकती। इसे निज स्वरूप का ज्ञान नहीं होता किन्तु जब वृत्तियाँ रुक जाती हैं तभी इसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है इससे पूर्व नहीं। जिस प्रकार आइने में देखने पर आसपास की सभी वस्तुएँ दिखाई देती हैं। किन्तु इन्हें देखने वाली आँख दिखाई नहीं देती तथा देखने वाली आँख के देखने पर अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता इसी प्रकार की दृष्टा (आत्मा) की स्थिति है। चित्त का कारण प्रकृति है तथा इसमें भेद दिखाई देने का कारण बुद्धि है। मोटे तौर पर चित्त की दो ही वृत्तियाँ हैं—वृत्ति सारूप्य तथा वृत्ति वैरूप्य। इसी को 'विद्या' और 'अविद्या' कहते हैं। जब चित्त आत्मा की ओर आकर्षित होता है तो वह 'विद्या' है किन्तु जब वह वृत्तियों के अनुरूप वासना के कारण संसार की ओर आकर्षित होता है तो 'अविद्या' है।

महर्षि पतंजलि ने समस्त योग का सार इन चार ही सूत्रों में समाहित कर दिया। जो इनको ठीक प्रकार से समझ लेता है वह योग को भली भाँति समझ सकता है। आगे के सूत्रों में इन्हीं चारों का विस्तार है।

सूत्र—५

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।

(उपर्युक्त) **क्लिष्टाक्लिष्टाः**=क्लिष्ट और अक्लिष्ट (भेदोंवाली); **वृत्तयः**=वृत्तियाँ; **पञ्चतय्यः**=पाँच प्रकार की (होती हैं)।

अनुवाद— *वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं और उनके प्रत्येक के 'क्लिष्ट' और 'अक्लिष्ट' दो-दो भेद हैं।*

व्याख्या—चित्त में वासना एवं पूर्व कर्म संस्कारों के कारण अनेक प्रकार की तरंगें उठती हैं किन्तु मुख्यतया ये पाँच प्रकार की हैं तथा प्रत्येक क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार की होती है। क्लिष्ट वृत्ति अविद्या जनित है तथा दुःखों को बढ़ाती है। इसके विपरीत अक्लिष्ट वृत्ति विद्या जनित है जो सुख एवं आनन्द को देने वाली होती है। एक ही वृत्ति जब बाहर संसार की ओर देखती है तो वह दुःख का·कारण बनती है तथा वह योग साधन में बाधा स्वरूप होती है किन्तु जब वही वृत्ति आत्मा की ओर देखती है तो वह सुख का कारण बनती है। इसे अक्लिष्ट कहते हैं। सांख्य में इस चित्त को ही प्रकृति कहा गया है जिसके कई भेद बताए गए हैं। यहाँ इसी प्रकृति को चित्त तथा इसके भेदों को वृत्तियाँ कहा है। यह प्रकृति तीन गुणों (सत्य, रज और तम) से युक्त है। सारी सृष्टि का विस्तार इन्हीं गुणों के आधार पर हुआ है तथा दृष्टा (आत्मा) इसे मात्र देख रहा है। इन तीनों गुणों की मात्रा की भिन्नता से प्रकृति तत्वों में भिन्नता दिखाई देती है। शरीर में जो 'चित्त' है वहीं सृष्टि में 'महत्तत्व' कहा जाता है। वास्तव में इसके भेद दो ही हैं—'विद्या' और 'अविद्या' अथवा 'अविपर्यय' और 'विपर्यय'। अविद्या और विपर्यय दुःख का कारण है तथा विद्या और अविपर्यय योग का कारण है जिससे सुख व आनन्द की प्राप्ति होती है। साधक पहले अक्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट को हटाता है, फिर उन अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध करता है जिससे योग सिद्ध होता है।

इन वृत्तियों का आगे विस्तार से वर्णन किया गया है।

सूत्र—६

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः=१. प्रमाण, २. विपर्यय, ३. विकल्प, ४. निद्रा, ५. स्मृति—ये पाँच हैं।

अनुवाद— प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच 'वृत्तियाँ' हैं।

व्याख्या—चित्त पुरुष और प्रकृति का संयुक्त रूप है जो इस पुरुष (आत्मा) के कारण ही सक्रिय होता है। चित्त की निम्न पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं जो सांसारिक ज्ञान का आधार है जिनका निरोध होने पर वह अपने प्रकृतिजन्य स्वरूप को त्याग कर आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाता है। ये वृत्तियाँ हैं—

१. **प्रमाण वृत्ति**—इस वृत्ति के कारण वह प्रमाणों के आधार पर किसी वस्तु के सत्य स्वरूप के जानने की चेष्टा करता है। यह वृत्ति इन्द्रिय विषयों के पूर्वाभ्यास से सम्बन्धित विषयों के प्रसंग आने पर उभरती है।

२. **विपर्यय वृत्ति**—इस वृत्ति के कारण उसे कोई वस्तु जैसी है वैसी न दिखाई देकर उसमें अन्य वस्तु का भ्रम हो जाता है, जैसे रस्सी में सांप की भ्रान्ति हो जाना। वस्तु स्थिति की जानकारी न होने से उसका प्रतिकूल ज्ञान होता है। इससे वह असत् को सत् तथा सत् को असत् मानने लगता है।

३. **विकल्प वृत्ति**—इस वृत्ति के कारण वह किसी वस्तु के न होते हुए भी उसकी कल्पना करता है। जैसे ईश्वर को किसी ने देखा नहीं किन्तु उसके स्वरूप की कल्पना करना। भय, आशंका, सन्देह, अशुभ सम्भावना आदि की उपस्थिति के अभाव में भी उसकी कल्पना करना।

४. **निद्रा वृत्ति**—जिसमें कुछ भी दिखाई न दे किन्तु उस अभाव की प्रतीति होती है। आलस्य, प्रमाद, उपेक्षा, अवसाद, अनुत्साह इसी वृत्ति के कारण होता है।

५. **स्मृति वृत्ति**—इसके कारण जो देखा या जाना गया है उसका पुनः स्मरण हो आता है। वे संस्मरण जो निकृष्ट योनि में रहते

समय अभ्यास में आते रहे हैं, स्वभाव के अंग बन जाते हैं। उसकी छाया मनुष्य योनि में भी छाई रहती है जिससे मनुष्य पशु तुल्य व्यवहार करता देखा जाता है।

योग साधना का उद्देश्य इन दुष्प्रवृत्तियों के साथ संघर्ष करना है जो पशु योनियों से चली आ रही हैं। आत्मा की गरिमा पर ये पशु वृत्तियाँ हावी हो रही हैं जिनको हटाने के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। योग में इसी के निरोध की बात कही गई है जिससे आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट हो सके। योग के अभ्यास से ही तत्त्वज्ञान होता है जिसे आठ अंगों में पूर्ण करना होता है।

योग बाजीगरी का खेल नहीं है, न कोई शारीरिक कसरत है, न शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिए है। शरीर एवं मन की शुद्धि से ही योग होता है। अशुद्धि किसी भी स्तर की हो, उसे हटाना आवश्यक है।

सूत्र—७

प्रत्यक्षानुमानाऽगमाः प्रमाणानि।

प्रत्यक्षानुमानागमाः=प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—(ये तीन), **प्रमाणानि**=प्रमाण हैं।

अनुवाद— *प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भेद के अनुसार 'प्रमाण वृत्ति' तीन प्रकार की है।*

व्याख्या—प्रमाणों के आधार पर किसी वस्तु के सत्यासत्य का निर्माण करना चित्त की 'प्रमाण-वृत्ति' है। यह प्रमाण तीन प्रकार का होता है—

१. **प्रत्यक्ष प्रमाण**—जिन वस्तुओं का ज्ञान इन्द्रियों की सहायता से होता है वह 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है। जैसे आँखों देखी, कानों सुनी, जिह्वा से स्वाद, नासिका से गन्ध तथा चमड़ी से स्पर्श का ज्ञान होना प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब इसका भ्रम एवं संशय

रहित ज्ञान होता है तो वह सत्य होता है। यदि इससे संसार की अनित्यता का बोध होकर चित्त ईश्वर की ओर अभिमुख होता है तो यह 'अक्लिष्ट' है जिससे सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है किन्तु इस वृत्ति से यदि संसार व उसके भोग सत्य ज्ञात होने लगें तथा ईश्वर के प्रति अनास्था हो जाए तो इसे 'क्लिष्ट' कहते हैं। इससे दुःखों में वृद्धि ही होती है।

२. **अनुमान प्रमाण**—जिन वस्तुओं का ज्ञान इन्द्रियगत अनुभव के आधार पर न होकर अनुमान के आधार पर होता है उसे 'अनुमान प्रमाण' कहते हैं। जैसे धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान करना, बाढ़ आई देखकर दूर देश में अति-वृष्टि का अनुमान करना आदि। यदि इससे योग साधनों की ओर श्रद्धा बढ़ती है तो यह 'अक्लिष्ट' है किन्तु यदि उसका उपयोग सांसारिक पदार्थों के भोग के लिए किया जाता है तो यह 'क्लिष्ट' कहलाती है।

३. **आगम प्रमाण**—जो ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणों के आधार पर नहीं होता किन्तु विद्वानों तथा ज्ञानियों द्वारा कहे गए वचन तथा शास्त्र के वचन के आधार पर होता है वह भी प्रमाण है जिसे जिन्होंने प्रत्यक्ष देखा है। सभी व्यक्तियों को सभी प्रकार के अनुभव हो जाना अर्थात् सभी वस्तुओं को प्रत्यक्ष देख पाना असम्भव है। इसलिए ज्ञानियों के कथन जो शास्त्रों में संग्रहीत हैं 'आगम प्रमाण' कहते हैं। इनसे यदि भोगों से वैराग्य होकर योग साधना की ओर चित्त प्रवृत्त होता है तो वह 'अक्लिष्ट' है तथा संसार के भोगों की ओर प्रवृत्त होने पर वह 'क्लिष्ट' है। वेद, उपनिषद, दर्शन आदि उन मनीषियों द्वारा लिखे गए हैं जिनको वैसा अनुभव हुआ। इसलिए ये शास्त्र आगम प्रमाण हैं।

सूत्र—८

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमेतद्रूपप्रतिष्ठम्।

अतद्रूपप्रतिष्ठम्=जो उस वस्तु के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है, ऐसा; **मिथ्याज्ञानम्**=मिथ्या ज्ञान; **विपर्ययः**=विपर्यय है।

अनुवाद— वस्तु में अन्य वस्तु का जो मिथ्या (भ्रमपूर्ण) ज्ञान होता है वह 'विपर्यय' है।

व्याख्या—किसी वस्तु को देख या सुनकर उस वस्तु से भिन्न किसी अन्य वस्तु को समझ लेना 'विपर्यय' वृत्ति है। जैसे रस्सी को साँप समझ लेना, सीपी में चाँदी की भ्रान्ति हो जाना, मरुस्थल में जल की भ्रान्ति हो जाना (मृग मरीचिका) आदि। यह वृत्ति भी जब योग की ओर ले जाती है तो 'अक्लिष्ट' तथा संसार की ओर ले जाती है तो 'क्लिष्ट' कहलाती है।

सूत्र—९

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।

शब्दज्ञानानुपाती=जो ज्ञान शब्दजनित ज्ञान के साथ-साथ होनेवाला है; (और) **वस्तुशून्यः**=जिसका विषय वास्तव में नहीं है, वह; **विकल्पः**=विकल्प है?

अनुवाद— वस्तु के न रहते हुए भी शब्द ज्ञान मात्र से उत्पन्न चित्तवृत्ति को 'विकल्प' कहते हैं।

व्याख्या—जब कोई वस्तु नहीं होती किन्तु शब्द ज्ञान-मात्र से जो कोरी कल्पना की जाती है वह चित्त की 'विकल्प' वृत्ति है। संसार के अधिकांश कार्यों के पहले कल्पना ही होती है। सभी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, कविता, संगीत, कलाएँ आदि कल्पना की ही उपज हैं। यह कल्पना भी चित्त की वृत्ति है। इसका भी अच्छा और गलत उपयोग किया जा सकता है। यदि यह ईश्वर प्राप्ति में लगाई जाए तो 'अक्लिष्ट' है अन्यथा

'क्लिष्ट' कहलाती है। जैसे भगवान् का स्वरूप किसी ने देखा नहीं किन्तु साधक सुने सुनाये तथा ग्रन्थों को पढ़कर उसके स्वरूप की कल्पना कर उस पर ध्यान लगाता है जिससे उसे ध्यान का लाभ प्राप्त होता है। ऐसा विकल्प 'अक्लिष्ट' कहलाता है। संसार के भोगों की ओर लगने पर इसे 'क्लिष्ट' कहते हैं।

सूत्र--१०

अभावप्रत्ययाऽलम्बला वृत्तिर्निद्रा।

अभावप्रत्ययाऽलम्बना=अभाव के ज्ञान का अवलम्बन (ग्रहण) करनेवाली; **वृत्तिः**=वृत्ति; **निद्रा**=निद्रा है।

अनुवाद— *अभाव के ज्ञान का अवलम्बन करने वाली (ग्रहण करने वाली) वृत्ति 'निद्रा' है।*

व्याख्या—'निद्रा' भी चित्त की वृत्ति है। इसमें मनुष्य को किसी भी विषय का ज्ञान नहीं रहता किन्तु ज्ञान के अभाव की प्रतीति होती है। जैसे गहरी निद्रा में भी मनुष्य को यह भान रहता है कि आज नींद गहरी आई। इस भान के कारण ही इसे 'वृत्ति' कहा गया है। जब निद्रा से जागने पर आनन्द की अनुभूति हो, आलस्य न रहे, इन्द्रियाँ स्वस्थ एवं प्रसन्न हो जायें तो इसे 'अक्लिष्ट' कहते हैं किन्तु जागने पर यदि केवल थकान का अभाव हो जाए और उससे आसक्ति उत्पन्न हो जाए तो वह 'क्लिष्ट' कहलाती है। समाधि और गहरी निद्रा करीब-करीब समान ही हैं। समाधि में सजगता बनी रहती है किन्तु गहरी निद्रा में सजगता नहीं होती। यदि इसमें सजगता रहे तो इसी को 'समाधि' कहते हैं।

सूत्र—११

अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः।

अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः=अनुभव किये हुए विषय का न

छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना; **स्मृतिः**=स्मृति है।

अनुवाद— *अनुभव किये हुए विषय का विस्मरण ही 'स्मृति' है।*

व्याख्या—इन्द्रियों तथा मन से अनुभव किये विषयों के संस्कार चित्त पर पड़ते हैं उनका पुनः किसी निमित्त को पाकर प्रकट हो जाना ही 'स्मृति' है। संसार में रहकर अच्छे, बुरे, सामान्य, असामान्य, आनन्दप्रद-कटु, क्रोध, घृणा, द्वेष आदि से अनेक प्रकार के कर्म किये जाते हैं तथा मन द्वारा सोचे जाते हैं उनमें जिनका गहरा अनुभव होता है तथा जो बात गहराई तक प्रविष्ट हो जाती है वे ही संस्कार कहलाते हैं। ये संस्कार चित्त पर स्थाई रूप से पड़ते हैं जिनका प्रभाव अनेक जन्मों तक रहता है जब तक उनका भोग समाप्त नहीं हो जाता। ये संस्कार अच्छे, बुरे और मिश्रित तीनों प्रकार के होते हैं। 'सविकल्प समाधि' में ये ही स्मृतियाँ रहती हैं। जब ये स्मृतियाँ नहीं रहतीं तो इसी को 'निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। किन्तु बीज रूप में ये विद्यमान रहती हैं जिससे व्यवहार के समय इनका उपयोग किया जा सकता है। चित्त पर पड़े संस्कार जब जागते हैं तभी उन्हें 'स्मृति' कहते हैं। जब इस वृत्ति से आत्मज्ञान में उत्साह बढ़ता है तो यह 'अक्लिष्ट' तथा भोगों में रुचि बढ़ती है तो यह 'क्लिष्ट' कहलाती है।

सूत्र—१२

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

तन्निरोधः=उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध; **अभ्यासवैराग्याभ्याम्**=अभ्यास और वैराग्य से होता है।

अनुवाद— *उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध 'अभ्यास' और 'वैराग्य' से होता है।*

व्याख्या—महर्षि पतंजलि ने इस पद के दूसरे सूत्र में चित्त की

वृत्तियों के निरोध को ही 'योग' कहा है। ईश्वर अथवा आत्मा कोई उपलब्ध होने वाली वस्तु नहीं है। वह तो नित्य उपलब्ध है ही। जिस प्रकार समुद्र में लहरों के कारण उसमें पड़ा चन्द्रमा का बिम्ब दिखाई नहीं देता, जिस प्रकार बादलों के आवरण से आकाश दिखाई नहीं देता उसी प्रकार इस चित्त में नित्य उठ रही तरंगों के कारण उससे परे स्थित आत्मा दिखाई नहीं देती। ये चित्त की तरंगें उसकी वृत्तियाँ ही हैं जो पूर्व जन्मों में किये गये कर्मो से निर्मित संस्कारों के कारण सदा संसार के भोगों की ओर ही प्रवृत्त होती हैं। योग शास्त्र में इसी को 'अविद्या' कहा है। यदि इन प्रवृत्तियों का योग साधनों द्वारा निरोध कर दिया जाए जिससे ये संसार के भोगों की ओर न दौड़े तथा बिल्कुल शान्त हो जाए तो साधक को आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। आत्मज्ञान होने पर ही साधक को संसार से पूर्ण वैराग्य होता है तथा वह स्वयं दृष्टा, साक्षी बन जाता है। यही ज्ञान है तथा यही मुक्ति है। किन्तु अनेक जन्मों के संस्कारों के कारण ये वृत्तियाँ इतनी दृढ़ हो गई हैं कि इन्हें रोकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। महर्षि पतंजलि इनके निरोध के दो उपाय बतलाते हैं 'अभ्यास' और 'वैराग्य'। विषयों के प्रति जो आसक्ति है उसका सर्वथा त्याग ही 'वैराग्य' है। घर छोड़कर जंगल जाना, भगवा पहनना, शरीर पर राख लपेट लेना, नग्न रहना आदि वैराग्य नहीं हैं बल्कि सांसारिक विषयों के प्रति जो वासना है, आसक्ति है, लगाव है इनका त्याग ही वैराग्य है। दूसरे शब्दों में वासना ही संसार है एवं उसका त्याग ही मुक्ति है। ये सांसारिक विषय ही दुःख के कारण हैं तथा अपने स्वरूप (आत्मा) में स्थित हो जाना ही परमानन्द की स्थिति है। इसलिए पतंजलि 'वैराग्य' की बात कहते हैं। जो विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग किये बिना योगाभ्यास करते हैं वे पथभ्रष्ट ही होते हैं तथा पाखण्डी हो जाते हैं। इसलिए वैराग्य स्वरूप होकर निरन्तर मन की प्रवृत्तियों को रोकने का अभ्यास करने से निश्चित ही साधक को आत्मज्ञान का सुख मिलता

है। किन्तु संसारी ठीक इसके विपरीत कर रहा है। वह आत्मा और ईश्वर के प्रति वैराग्य किए हुए है तथा इन वृत्तियों को रोकने का नहीं, इनको और दृढ़ और विकसित करने का प्रयत्न कर रहा है। प्रकृति से जो कुछ मिला है उसका अधिकाधिक उपयोग कर रहा है। इससे संसार में विकास तो हुआ है किन्तु भोग वृत्ति तथा आसक्ति भी बढ़ गई है जिससे वह दुःखी अधिक हुआ है। सच्चा सुख तो आत्मज्ञान के बिना नहीं मिल सकता तथा उसके लिए इन वृत्तियों का निरोध आवश्यक है जो निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से ही सम्भव है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में कहा है हे महाबाहो! निस्संदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से यह वश में होता है। (गीता ६/३५) कर्म छोड़ना वैराग्य नहीं है, आसक्ति छोड़ना ही वैराग्य है।

आगे और भी कहा है, "जो मूढ़ बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठपूर्वक रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।" (गीता ३/६)

इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुष की तो आसक्ति भी परमात्मा के साक्षात्कार से निवृत्त हो जाती है। (गीता २/५९)

सूत्र—१३

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

तत्र=उन दोनों में से; **स्थितौ**=(चित्त की) स्थिरता के लिये; **यत्नः**=जो प्रयत्न करना है, वह; **अभ्यासः**=अभ्यास है।

अनुवाद— *इन दोनों (अभ्यास और वैराग्य) में से चित्त वृत्तियों को रोकने के लिए बार-बार यत्न करना 'अभ्यास' है।*

व्याख्या—इस सूत्र में 'अभ्यास' की व्याख्या करते हुए महर्षि

कहते हैं कि चित्त की स्थिरता के लिए बार-बार जो प्रयत्न किया जाता है वह 'अभ्यास' है। मन बड़ा चंचल है। वह एक क्षण भी शान्त नहीं रहता। विचारों का प्रवाह ही मन की चंचलता के कारण है। यह प्रवाह निद्रा में भी चलता रहता है। स्वप्न भी इसी प्रवाह से आते हैं। यह मन हजारों तरफ भागता है। इसे किसी एक ध्येय की ओर स्थिर करने की चेष्टा बारम्बार करना 'अभ्यास' है। इसकी अनेक विधियाँ विभिन्न शास्त्रों एवं धर्मों में खोजी गई हैं जैसे ध्यान, भजन, कीर्तन, मन्त्र जाप, किसी मूर्ति, तस्वीर आदि को आधार बना कर अपने इष्ट, देवता अथवा परमात्मा का ध्यान, त्राटक ॐ पर ध्यान, गुरु द्वारा दिये मन्त्र का जाप, शरीर के किसी अंग विशेष जैसे भृकुटि, हृदय कमल, नाभि, श्वास, प्रश्वास पर ध्यान केन्द्रित करना आदि अनेक विधियाँ हैं जिनसे मन किसी एक केन्द्र पर केन्द्रित होता है। इससे मन की शक्ति कई गुना बढ़ जाती है जिससे सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। साधक को इन सिद्धियों से बचकर इस शक्ति का उपयोग आत्मज्ञान हेतु ही करना चाहिए। मन के एकाग्र होने से वह शान्त नहीं होता। उसका उपयोग न करने से वह शान्त होता है किन्तु थोड़े समय शान्त होने के बाद वह पुनः दूने वेग से भोगों की ओर भागता है। उस समय इस पर नियन्त्रण आवश्यक है। जैसे उपवास करने पर बार-बार खाने की इच्छा होती है तथा चौबीस घंटे ध्यान भोजन की ओर ही जाता है। ध्यान में बैठने पर विचार अधिक तेजी से आते हैं। इस प्रकार मन किसी एक केन्द्र पर टिकता ही नहीं। इसलिए उसे बार-बार खींच कर ध्येय की ओर प्रयत्न पूर्वक लगाना पड़ता है। यही 'अभ्यास' है। इसमें काफी लम्बा समय भी लग सकता है इसलिए साधक में धैर्य होना आवश्यक है। इसी पाद में सूत्र ३२ से ३९ तक इसे स्थिर करने की कुछ विधियाँ बताई गई हैं। इनका भी प्रयोग करना चाहिए। ये अंतरंग साधन हैं। बाह्य साधनों का वर्णन साधन पाद में किया गया है जिनमें आसन एवं प्राणायाम मुख्य है। इनसे भी चित्त स्थिर होता है। संसार

लिए गति आवश्यक है। गति का नाम ही संसार है किन्तु परमात्मा केन्द्र पर है जहाँ कोई गति नहीं है। सब स्थिर है, ठहरा हुआ है। संसार पाना हो तो गति आवश्यक है, भाग-दौड़, संघर्ष आवश्यक है क़िन्तु परमात्मा की प्राप्ति 'करने' से नहीं होती। 'अक्रिया' ही उसको पाने का सूत्र है। जिस समय मन एवं शरीर की समस्त क्रियाएँ रुक जाती हैं उस समय आत्मज्ञान होता है। इसलिए यह अभ्यास 'कुछ करने' के लिए नहीं बल्कि 'न करने' के लिए है। मन की वृत्ति सदा कुछ-न-कुछ करने की है इसलिए अभ्यास द्वारा इसे 'न करने' में लगाना है, इसे स्थिर एवं शान्त करने में लगाना है जिससे इसकी सारी हलचल समाप्त हो जाए। आत्मज्ञान का यह एक ही मार्ग है। यह शरीर एक ऐसा मन्दिर है जिसके बाहर विशाल संसार है एवं भीतर परमात्मा है। मन उसके द्वार पर खड़ा है जो निरन्तर संसार की ओर मुँह किए हुए है व उसी को देख रहा है। यदि उसमें संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न किया जाए और परमात्मा के आनन्द की झलक दिखा दी जाए तो वह विपरीत मुख होकर आत्मानन्द को प्राप्त हो सकता है। यही 'योग' है।

सूत्र—१४

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढ़भूमिः।

तु=परंतु; **सः**=वह (अभ्यास); **दीर्घकालनैरन्तर्य-सत्काराऽऽसेवितः**=बहुत काल तक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जाने पर; **दृढभूमिः**=दृढ़ अवस्थावाला होता है।

अनुवाद— *परन्तु वह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक सेवन किये जाने पर दृढ़ अवस्था वाला हो जाता है।*

व्याख्या—आत्मज्ञान के लिए चित्त को बार-बार यत्नपूर्वक रोकने का निरन्तर अभ्यास करना आवश्यक है। इस अभ्यास में काल की कोई

अनुवाद— देखे और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णारहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था है वह 'वशीकार वैराग्य' है।

व्याख्या—इस सूत्र में 'वशीकार वैराग्य' के बारे में स्पष्ट किया गया है कि भोगों का साधन इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों ने जिनका भोग किया है उनसे हुए क्षणिक आनन्द की अनुभूति से उस विषय को बार-बार भोगने की तृष्णा पैदा होती है तथा इन्द्रियों द्वारा भोगे गये विषयों के अलावा जिन विषयों के बारे में केवल मात्र सुना है कि वे आनन्द देने वाले हैं उनसे भी तृष्णा बढ़ जाती है, यह तृष्णा देखने, पढ़ने से भी बढ़ती है; चाहे किसी ने उसका प्रत्यक्ष अनुभव न किया हो। योग साधना के द्वारा जब मन स्थिर हो जाता है तो इन सभी प्रकार के भोगों के प्रति जो तृष्णा है वह शान्त हो जाती है। चित्त की इस प्रकार की स्थिति को 'वशीकार वैराग्य' कहते हैं। इसी को 'अपर वैराग्य' भी कहते हैं। इस अपर वैराग्य की स्थिति में साधक को स्वर्ग के सुख भोग की तृष्णा भी नहीं रहती।

सूत्र—१६

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

पुरुषख्यातेः=पुरुष के ज्ञान से; **गुणवैतृष्ण्यम्**=जो प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना है; **तत्**=वह; **परम्**=पर-वैराग्य है।

अनुवाद— पुरुष के ज्ञान से (आत्मज्ञान होने पर) प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना 'परम वैराग्य' है।

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्र में वर्णित वैराग्य सामान्य है, ऊपरी-ऊपरी है। इसमें तृष्णा का अभाव तो हो जाता है किन्तु चित्त की वृत्तियाँ जीवित रहती हैं; जिससे वह पुनः भोगों की ओर जा सकती है। इस सूत्र में वैराग्य की सर्वोच्च स्थिति को बताया गया है जिसमें आत्मज्ञान हो

जाने पर प्रकृति के गुणों में भी तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है। वशीकार वैराग्य होने पर प्रकृति के गुणों का जो बीज विद्यमान था उसका भी आत्मज्ञान होने पर नाश हो जाता है इसलिए तृष्णा के बीज के ही नष्ट हो जाने से फिर उसका पुनः उदय सम्भव नहीं है। इस प्रकार का वैराग्य 'परम वैराग्य' है। इसे 'पर वैराग्य' भी कहते हैं। इन दोनों सूत्रों से यह स्पष्ट होता है कि वैराग्य लिया नहीं जाता वह घटित होता है। यह साधना नहीं बल्कि उपलब्धि है, यह ऊपर से ओढ़े गए मुखौटे जैसा नहीं है बल्कि भीतर हुए परिवर्तन का परिणाम है। ऊपर से चोला बदलकर वैराग्य ग्रहण करने वाले वैरागी नहीं हो सकते। भोगों की वासना का क्षय आत्मज्ञान के बिना नहीं हो सकता। जब तक परम सुख नहीं मिल जाता तब तक क्षुद्र एवं अनित्य सुख के प्रति वासना बनी ही रहती है अतः यह परम वैराग्य की स्थिति नहीं है। संसार से चिढ़ना, उसे गाली देना, वैराग्य के लक्षण नहीं हैं। संसार से दुखी होकर उससे भाग जाना, संसार में दुःख ही दुःख है ऐसा कहना, संसार से घृणा करना आदि भी वैराग्य नहीं है। यह रुग्ण मस्तिष्क की उपज है। अंगूर न मिलने पर उन्हें खट्टे कहने जैसा है। भोग के बाद आये हुए वैराग्य में कुछ सत्यता है किन्तु आत्मज्ञान के बाद संसार के क्षुद्र सुख अपने आप छूट जाते हैं यही सच्चा वैराग्य है। परमात्मा की प्राप्ति पर फिर भौतिक बन्धन कैसे रह सकते हैं। भगवान् कृष्ण के जन्म के साथ ही जिस प्रकार सभी अज्ञानी पहरेदार सो जाते हैं, सभी ताले, किवाड़, बेड़ियाँ आदि अपने आप खुल जाती हैं तथा चेतना इस अज्ञान के कारागृह से मुक्त हो जाती है। यही आध्यात्म का रहस्य है।

सूत्र—१७

वितर्कविचारानन्दास्मिताऽनुगमात्सम्प्रज्ञातः।

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्=वितर्क, विचार, आनन्द और

अस्मिता—इन चारों के सम्बन्ध से युक्त (चित्त वृत्ति का समाधान); **सम्प्रज्ञातः**=सम्प्रज्ञातयोग है।

अनुवाद— *वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इन चारों के सम्बन्ध से युक्त चित्तवृत्ति का समाधान 'सम्प्रज्ञात योग' (समाधि) है।*

व्याख्या—इस समाधिपाद में महर्षि पतंजलि ने सर्वप्रथम योग की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'चित्त' की वृत्तियों का निरोध ही योग है। इस निरोध के फलस्वरूप आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। इसी को योग, मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य की स्थिति कहते हैं। इसके बाद वृत्तियों के भेद तथा उनके निरोध का उपाय बतलाया गया है। इस निरोध के फलस्वरूप साधक को समाधि-लाभ होता है जिसका वर्णन आगे के सूत्रों में किया गया है। इस सूत्र में विभिन्न प्रकार की समाधियों का वर्णन है। सबसे पहले 'सम्प्रज्ञात समाधि' का स्वरूप बताया गया है कि जब वशीकार वैराग्य हो जाता है अर्थात् मन वश में होने पर भोगों के प्रति तृष्णा हट जाती है तो इसे 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। इस समाधि में चित्तवृत्ति का समाधान हो जाता है। वह बाहर भागने से तो रुक जाती है किन्तु भीतर अचेतन मन में बीज रूप में विद्यमान रहती हैं। यह सम्प्रज्ञात समाधि भी क्रम से सिद्ध होती है। चित्त की वृत्तियों का सम्बन्ध वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से है। इन चारों का क्रम से निरोध होता है। अतः इन चारों के निरोध से घटित समाधि भी चार प्रकार की कही जाती है।

बाहर से जो ज्ञान या अनुभव होता है वह भीतर संग्रहीत रहता है तथा समय आने पर उसे पुनः उगल देते हैं यह वितर्क स्थिति है। इसमें क्रमबद्धता नहीं होती तथा यह प्रामाणिक भी नहीं होता। ये विचार स्वयं के नहीं, दूसरों से उधार लिए होते हैं अतः इस स्थिति में संशय बना रहता है, तर्क वितर्क चलता रहता है। जब इन्द्रियों के ग्राह्य पदार्थों के

स्थूल रूपों का तो निरोध हो जाता है किन्तु इनका विकल्प शब्द, अर्थ और ज्ञान बना रहता है। इस प्रकार की समाधि को 'सवितर्क समाधि' कहते हैं। जब इन स्थूल ग्राह्य पदार्थों के विकल्प (शब्द, अर्थ और ज्ञान) का भी निरोध हो जाता है तो उसे 'निर्वितर्क समाधि' कहते हैं। इन्हीं को 'सविकल्प' तथा 'निर्विकल्प' सभाधि भी कहते हैं। इसके बाद बाहर से संग्रहीत विचारों का क्रम तो बन्द हो जाता है किन्तु स्वयं के भीतर ही भीतर विचार चलते रहते हैं। तथा निर्णय भीतर से ही आना आरम्भ हो जाता है। इसे 'विचार' कहा जाता है। सही तर्क से विचार आते हैं। यह वरदान है जिससे सत्य का पता चलता है। कुतर्क वाला नकारात्मक (नेगेटिव) होता है। वह हर वस्तु का विरोध करने लगता है, तथा अपनी बात को ही सत्य सिद्ध करने का दुराग्रह करता है। वह अहंकारी होता है। हर बात के इन्कार करने से उसका अहंकार बढ़ता है। अपने अहं की तुष्टि के लिए वह दुराग्रही हो जाता है। इन्कार करने पर वह व्यक्ति समझता है मैं कुछ हूँ, मैं अधिक विद्वान व शक्तिशाली हूँ। विवाद में सत्य की नहीं, अहं की ही चिन्ता अधिक होती है। 'हाँ' कहने से तथा दूसरों की बात मान लेने से अहं गिरता है। इसलिए तर्क-वितर्क, विवाद आदि की अपेक्षा विचार करना उच्च स्थिति है। इससे सत्यानुसंधान में सहायता मिलती है। विचार क्रमबद्ध आते हैं। जब इन्द्रियों के ग्राह्य पदार्थों के सूक्ष्म रूपों (विचारों) का निरोध होता है तो उसे 'सविचार समाधि' कहते हैं। इसमें विचारों का क्रम भी बन्द हो जाता है किन्तु इसमें इन विचारों के शब्द, अर्थ तथा ज्ञान का विकल्प बना रहता है। जब यह विकल्प भी नहीं रहता, इसका भी निरोध हो जाता है तो उसे 'निर्विचार समाधि' कहते हैं।

इस निर्विचार समाधि में विचारों का क्रम सर्वथा रुक जाता है तथा साधक को आनन्द की अनुभूति होने लगती है। यह आनन्द भीतर के अनुभव के कारण आता है। इसमें अहंकार बना रहने से साधक में द्वैत

स्थिति बनी रहती है। साधक जो आत्मज्ञान का इच्छुक है, वह इस आनन्द का भी निरोध करता है। इस निरोध से 'आनन्दानुगत समाधि' उपलब्ध होती है।

इस आनन्दानुगत समाधि के बाद साधक को केवल 'अस्मिता' का बोध होता है, 'मैं हूँ' का ही भान रहता है। जब इसका भी निरोध हो जाता है तो इसे 'अस्मितानुगत समाधि' कहते हैं।

इन चारों प्रकार की समाधि को 'सम्प्रज्ञात योग' अथवा 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। इन चारों में प्रत्येक स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने वाली है। यह वशीकार वैराग्य से होती है किन्तु इनसे भी 'परम वैराग्य' नहीं होता। इन चारों में ज्यों-ज्यों ऊपर की स्थिति प्राप्त होती है त्यों-त्यों नीचे की छूटती जाती है क्योंकि सृष्टि निर्माण में प्रकृति का यही क्रम है। योग साधना में उसके ठीक विपरीत क्रम से चलना पड़ता है। प्रकृति की यात्रा ब्रह्म से स्थूल सृष्टि की ओर है एवं योग में उसके उल्टे क्रम से स्थूल जगत से आत्मा की ओर बढ़ना होता है। आत्मा पर यात्रा समाप्त होती है।

सूत्र—१८

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वःसंस्कार शेषोऽन्यः।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः=विराम-प्रत्यय का अभ्यास जिसकी पूर्व-अवस्था है और; **संस्कारशेषः**=जिसमें चित्त का स्वरूप 'संस्कार' मात्र ही शेष रहता है, वह योग; **अन्यः**=अन्य है।

अनुवाद— *परा वैराग्य के बार-बार अभ्यास करने से जब मानसिक क्रियाएँ शान्त होकर केवल संस्कार शेष रह जाते हैं तो वह 'असम्प्रज्ञात समाधि' है।*

व्याख्या—इस सम्प्रज्ञात समाधि के सधने पर मन वश में हो जाता है तथा चित्त की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। वे अब संसार के भोगों की

ओर नहीं भागतीं। वे स्वभाव से ही इनसे उपरत हो जाती हैं। इसी को 'विराम प्रत्यय' कहा जाता है। जब इसका अभ्यास क्रम भी बन्द हो जाता है तो चित्त की वृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाता है। केवल उस समय ये वृत्तियाँ संस्कार रूप में चित्त में विद्यमान रहती हैं। यह सूत्र १६ में बताये गये परम वैराग्य से स्थित स्वभाव वाली होती है। इस प्रकार की समाधि को 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। जो इस स्थिति को उपलब्ध नहीं हुए तथा 'सम्प्रज्ञात समाधि' तक ही आकर रुक गये वे इस अवस्था को 'शून्य' की स्थिति कहते हैं किन्तु जो उपलब्ध हुए हैं वे इसे शून्य नहीं बल्कि अधिक स्पष्ट कहते हैं। इसमें केवल आत्म सत्ता का भान होता है। इसमें मन की क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं, विचार ही बन्द हो जाते हैं, अहं भी गिर जाता है तथा द्वैत भी नहीं रहता।

इस असम्प्रज्ञात समाधि में अभ्यास क्रम समाप्त हो जाता है। केवल बीज रूप में जो चित्त के संस्कार शेष रहते हैं उसका आत्मा में अपने कारण में लीन हो जाने से उस आत्मा का प्रकृति के साथ जो संयोग था उसका सर्वथा अभाव हो जाता है एवं आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाती है। सूत्र ३ में बताई गई स्थिति को जब आत्मा प्राप्त कर लेती है तो उसी को 'निर्बीज समाधि' कहते हैं। यही 'कैवल्यावस्था' है। असंप्रज्ञात समाधि में चेतन-मन की सारी क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं किन्तु अचेतन-मन में छिपे अनेक जन्मों के संस्कार विद्यमान रहते हैं जिससे पुनर्जन्म फिर होता है किन्तु वह अन्तिम होगा। इसको 'सबीज समाधि' कहते हैं। इस बीज को मिटाने के लिए फिर प्रयत्न करना पड़ेगा। इस बीज के मिटने से फिर पुनर्जन्म की कोई सम्भावना नहीं रहती। सारा जीवन-मृत्यु चक्र ही समाप्त हो जाता है यही 'निर्बीज समाधि' है। इस प्रकार यह असम्प्रज्ञात समाधि भी दो प्रकार की है। 'सबीज' तथा 'निर्बीज'।

सूत्र—१९

भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।

विदेहप्रकृतिलयानाम्=विदेह और प्रकृतिलय योगियों का (उपर्युक्त योग); **भवप्रत्ययः**=भवप्रत्यय कहलाता है।

अनुवाद— *विदेह और प्रकृतिलय योगियों का उपर्युक्त योग 'भव प्रत्यय' कहलाता है।*

व्याख्या—ऊपर असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद बताये गये हैं 'सबीज' तथा 'निर्बीज'। असम्प्रज्ञात सबीज समाधि में चेतन मन की सारी क्रियाएँ तो बन्द हो जाती हैं किन्तु अचेतन-मन में छिपे पूर्व जन्मों के संस्कार बीज रूप में विद्यमान रहते हैं। इसलिए ऐसे योगी जो सबीज समाधि को तो उपलब्ध हो गये किन्तु निर्बीज समाधि उपलब्ध होने से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो गई उनको इन वृत्तियों का बीज शेष रह जाने से पुनः जन्म धारण करना पड़ता है किन्तु उनका यह जन्म अन्तिम होता है। इसमें इनको पूर्व जन्म की उपलब्धियों की स्मृति रहती है तथा इस जन्म में उन्हें कुछ नहीं करना पड़ता। आरम्भ से उन्हें योग साधना की आवश्यकता नहीं होती। वे केवल साक्षी होकर दृष्टावत् देखते हैं। वे जीवन में कुछ भी घटे, सब सहन करते हुए चलते हैं तथा प्रतिक्रिया करते ही नहीं। साक्षी बनकर अपने पूर्व जन्म के कर्मों का फल मानकर भोग लेते हैं। वे नये संस्कार निर्मित नहीं करते। इस साक्षी की अग्नि में वे इस बीज को भस्म कर देते हैं। जिससे वे निर्बीज समाधि को उपलब्ध हो जाते हैं। पूर्व जन्म में सबीज समाधि को उपलब्ध ऐसे योगी को विदेह कहते हैं। वे प्रकृति लय तक की स्थिति प्राप्त कर चुके होते हैं। केवल 'कैवल्य पद' शेष रह जाता है जिसे वे इस जन्म में पूरा करते हैं। उनका यह कैवल्य उपाय जन्य नहीं होने से इसको 'भव प्रत्यय' कहते हैं क्योंकि इस समाधि के लिए केवल मनुष्य जन्म लेना ही पर्याप्त

है। साधन नहीं करना पड़ता। इसलिए वह निर्बीज समाधि भी दो प्रकार से सिद्ध होती है। 'भव प्रत्यय' तथा 'उपाय प्रत्यय'। जिन योगियों की भव प्रत्यय की स्थिति नहीं होती उन्हें उपाय से ही इसे सिद्ध करना पड़ता है।

सूत्र—२०

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम।

इतरेषाम्=दूसरे साधकों का (निरोधरूप योग); **श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः**=श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक (क्रम से) सिद्ध होता है।

अनुवाद— *विदेह और प्रकृतिलयों से भिन्न योगियों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा आदि उपायों से 'असम्प्रज्ञात समाधि' सिद्ध होती है।*

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्र में 'भव-प्रत्यय' योग की स्थिति बताई गई है। किन्तु भव-प्रत्यय योगियों के अलावा अन्य योगी उपाय-प्रत्यय से निर्बीज समाधि को उपलब्ध होते हैं। इन उपायों के क्रम में 'श्रद्धा' परम आवश्यक है। बिना श्रद्धा के योग साधना असम्भव है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में कहा है "श्रद्धावान मनुष्य ही ज्ञान को प्राप्त होता है। (गीता ४/३९) दूसरा साधन 'वीर्य रक्षा' है। वीर्य रक्षण से मन, इन्द्रियाँ और शरीर सशक्त रहता है जो योग साधन में परम आवश्यक है। रुग्ण मन, इन्द्रिय एवं शरीर वाला व्यक्ति योग साधना नहीं कर सकता। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ही पहले आसनों का तथा मन को स्वस्थ रखने के लिए ही प्राणायामों का अभ्यास कराया जाता है, इन्द्रियों के स्वास्थ्य के लिए ध्यान मुख्य है। इन तीनों में वीर्य रक्षण सर्वोपरि महत्व रखता है। तीसरा साधन 'स्मृति' है जो श्रद्धा और वीर्य रक्षण से बलवती होती है। इनके फलस्वरूप योगी को 'समाधि'

होता है तथा समाधि में ही आत्मज्ञान होता है। समाधि की स्थिति में ही साधक का अन्तःकरण शुद्ध होता है जिससे उसकी बुद्धि सत्य को ग्रहण करने वाली हो जाती है जिसे 'ऋतम्भरा' कहते हैं। इन साधनों से योगी को असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ मिलता है।

सूत्र—२१

तीव्रसंवेगानामासन्नः।

तीव्रसंवेगानाम्=जिनके साधन की गति तीव्र हैं, उनकी (निर्बीज-समाधि); **आसन्नः**=शीघ्र (सिद्ध) होती है।

अनुवाद— *जिनके साधन की गति तीव्र है उनकी 'निर्बीज समाधि' शीघ्र होती है।*

व्याख्या—इन सब साधनों के अपनाये जाने पर भी सभी साधकों के योग सिद्धि में समय का अन्तर रहता है। इस अन्तर का कारण है साधनों की गति तीव्र अथवा धीमी होना। जो साधक पूर्ण श्रद्धा से नियमित रूप से योग साधना में लगे रहते हैं उन्हें शीघ्र लाभ मिलता है। साधनों की शिथिलता से विलम्ब होता है। विलम्ब का कारण यह भी होता है कि या तो मार्ग में आई विघ्न बाधाओं से घबराकर छोड़ देते हैं या सिद्धियों का प्रदर्शन करने लगते हैं। पूर्ण श्रद्धा का न होना भी कारण होता है। अतः इनसे बचकर चलने वाला शीघ्र लाभ प्राप्त करता है।

सूत्र—२२

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्=साधन की मात्रा हल्की, मध्यम और उच्च होने के कारण; **ततः**=तीव्र संवेगवालों में; **अपि**=भी; **विशेषः**=(कालका) भेद हो जाता है।

अनुवाद— *साधन की मात्रा हल्की, मध्यम और उच्च होने के*

कारण तीव्र संवेग वालों में भी काल का भेद हो जाता है।

व्याख्या—इस सूत्र में पतंजलि कहते हैं कि जिनकी साधन की गति तीव्र है उनमें भी योग उपलब्धि की अवधि में अन्तर होता है क्योंकि यह तीव्रता भी मात्रा के अनुसार हल्की, मध्यम तथा उच्च होती है। कुछ लोग उत्सुकतावश योग साधन आरम्भ कर देते हैं। उनकी रुचि नहीं होती। ये अकस्मात् ही पढ़ सुन या किसी से प्रभावित होकर आरम्भ कर देते हैं किन्तु दृढ़ संकल्प एवं श्रद्धा के अभाव में वे शीघ्र ही छोड़ भी देते हैं। ऐसों को प्राप्ति नहीं हो सकती बल्कि किया गया साधन भी व्यर्थ जाता है। दूसरे प्रकार के व्यक्ति ऐसे होते हैं जो केवल जानने के इच्छुक होते हैं। वे जिज्ञासु मात्र होते हैं। वे जानकर दार्शनिक बन सकते हैं। किन्तु योग में जानना नहीं है बल्कि स्वयं करके देखना है, स्वयं के अनुभव में लेना है। कुछ लोग नकारात्मक होते हैं। वे हर समय त्याग की बातें ही कहते रहते हैं। वे दुनिया के दुःखों को ही गिनाते रहते हैं कि दुनिया में दुःख ही दुःख हैं। उन्हें सुख कहीं दिखाई नहीं देता। किन्तु काँटे गिनने से फूल नहीं खिलते, अहिंसा से (किसी को नहीं मारने से) प्रेम नहीं होता, क्रोध छोड़ने से दया नहीं आती, झोंपड़ा छोड़ने से महल नहीं मिलता। विधायक (पौजीटिव) हो जाने से निषेध अपने आप हो जाता है, करना नहीं पड़ता। योग में उपलब्धि की ओर ही ध्यान दिया जाता है। वह चित्त वृत्तियों के निरोध की बात ही कहता है। इससे व्यक्ति खाली होता है यह 'मृदु' श्रेणी है। ऐसा व्यक्ति दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है, दूसरों को श्राप दे सकता है, आशीर्वाद भी दे सकता है किन्तु इससे उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है।

दूसरी श्रेणी 'मध्य' है। इसमें पहुँचकर व्यक्ति शान्त हो जाता है। मानसिक उपद्रव बन्द हो जाते हैं। तीसरी श्रेणी 'उच्च' है। इसमें वह प्राप्त कर लेता है।

सूत्र—२३

ईश्वर प्रणिधानाद्वा।

वा=इसके सिवा; **ईश्वरप्रणिधानात्**=ईश्वरप्रणिधान से भी (निर्बीज-समाधि की सिद्धि शीघ्र हो सकती है)।

अनुवाद— *इसके सिवा ईश्वर भक्ति यानि शरणागति से 'निर्बीज समाधि' की सिद्धि शीघ्र होती है।*

व्याख्या—दुनिया में दो प्रकार की साधनायें हैं स्वशक्ति साधना तथा परशक्ति साधना। स्वशक्ति साधना में साधक अपनी ही शक्ति में विश्वास कर अपनी चेतना को जाग्रत करता है। स्व-चेतना अर्थात् आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर वह उस विराट चेतन ब्रह्म से अपना एकत्व स्थापित कर अपनी समस्त वृत्तियों को प्रकृति में लय कर देता है जिससे उनका आरम्भ हुआ था। पर शक्ति साधना में भक्ति मुख्य है। इसमें ईश्वर को मुख्य स्थान है। भक्त कहता है मनुष्य गुलाम है वह कभी मालिक नहीं हो सकता। जीव कभी ईश्वर नहीं हो सकता। स्व-शक्ति साधना में भी मुख्य दो हैं—योग तथा सांख्य। योग क्रिया द्वारा अपनी स्व-चेतना का ज्ञान करता है तथा सांख्य क्रिया मात्र बन्धन मानता है। वह अक्रिया का मार्ग बताता है। पतंजलि यहाँ योग की बात कर रहे हैं। मार्ग और भी हैं। जिनसे पहुँचा जा सकता है किन्तु यदि कोई योग मार्ग पर ही चलना चाहे तो पतंजलि योग दर्शन पूर्ण विज्ञान है। इसके नियमों एवं विधियों का पालन कर वह पहुँच सकता है। यह मार्ग निरापद है। योगी के लिए आत्मा से भिन्न कोई ईश्वर नहीं है तथा इसे वह चित्त वृत्तियों के निरोध द्वारा जान सकता है। उस आत्मा (पुरुष) को जान लेना तथा उसमें अपनी अस्मिता को लय कर देना ही मोक्ष या कैवल्य है जो जीव की सर्वोपरि स्थिति है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर जो छिपी चेतना है वह ईश्वर ही है इसलिए अपनी चेतना के ज्ञान से हर व्यक्ति 'ईश्वर' है

तथा प्रकृति के संयोग के कारण वह 'जीव' कहलाता है। सांख्य भी पुरुष एवं प्रकृति को ही मानता है। जीव ही अंत में उस गुप्त चेतना को प्राप्त कर ईश्वर हो जाता है। अर्थात् मनुष्य का पूर्ण रूप से मिलाप ही ईश्वरत्व है। इसलिए योगी ही अन्त में 'अहं ब्रह्मास्मि' कहता है। भक्त ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वे ईश्वर को जीव से भिन्न मानते हैं।

किन्तु पतंजलि योग साधना में भी ईश्वर शरणागति को महत्वपूर्ण मानते हैं। इन्होंने सूत्र २३ से २९ तक ईश्वर शरणागति, उसका स्वरूप आदि का वर्णन करते हुए बताया है कि इसका प्रयोग करने पर शीघ्र समाधि लाभ प्राप्त होता है। पतंजलि की दृष्टि में ईश्वर भी एक साधन है। शंकराचार्य ने भी ईश्वर को माया कहा है। यह अन्तिम नहीं है। इस सूत्र में कहा गया है कि अन्य साधनों से साधक सम्प्रज्ञात समाधि तक तो जा सकता है किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में पहुँचने के लिए प्रयत्न काम नहीं आते। वहाँ सभी क्रियाएँ छूट जाती हैं। साधक साधन विहीन हो जाता है कि अब क्या करें? यहाँ आकर उसके रुक जाने की संभावना अधिक बढ़ जाती है। यहीं मार्ग-दर्शन के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। इससे आगे का मार्ग अक्रिया का है, पूर्ण श्रद्धा की यहीं आवश्यकता होती है वरना वह भटक सकता है। यहाँ योग विधियाँ समाप्त हो जाती हैं तथा सांख्य की विधि आवश्यक होती है। इस स्थिति में साधक को केवल दृष्टा या साक्षी बन जाना होता है। इस समय ईश्वर भक्ति अर्थात् ईश्वर शरणागति से शीघ्र ही निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है। अन्त में जो अस्मिता शेष रह जाती है जिससे साधक उस आत्मा से भिन्नता का अनुभव करता है। अहं के त्याग से यह भिन्नता समाप्त होकर आत्मा के साथ एकरूप हो जाता है। यहाँ द्वैत समाप्त होकर उसे अद्वैत की स्थिति का अनुभव होता है। जो साधक सम्प्रज्ञात समाधि में ही रुक जाते हैं उन्हें इस अद्वैत की अनुभूति नहीं होती। ऐसे ही लोग ईश्वर एवं जीव को भिन्न-भिन्न मानते हैं। इसीलिए इस अद्वैत

की स्थिति अथवा पूर्ण लय की स्थिति में पहुँचने के लिए पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान का महत्व बताया है। यहाँ पहुँचकर ईश्वर के प्रति समर्पण से यह निर्बीज समाधि शीघ्र ही सिद्ध होती है। जो समर्पित नहीं हो सकते उनका अहंकार जीवित रहता है जिससे वे ईश्वर एवं आत्मा की भिन्नता का ही अनुभव करते हैं। यही उनकी सबसे बड़ी बाधा है। ऐसे व्यक्ति योग भ्रष्ट कहलाते हैं। उनका पुनर्जन्म फिर होता है। भक्ति में आरम्भ से ही समर्पण हो जाता है जिससे यह अन्तिम बाधा नहीं रहती। गीता में इसे विस्तार से समझाया गया है। भक्ति के अन्तर्गत पाँच प्रकार की मुक्ति बताई है। (सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य) इसमें अन्तिम 'सायुज्य मुक्ति' यही अवस्था है।

सूत्र—२४

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।

क्लेशकर्मविपाकाशयैः=क्लेश, कर्म, विपाक और आशय—इन चारों से; **अपरामृष्टः**=जो सम्बन्धित नहीं है (तथा); **पुरुषविशेषः**=जो समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह; **ईश्वरः**=ईश्वर है।

अनुवाद— जो क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और कर्मों के संस्कारों के सम्बन्ध से रहित है तथा समस्त पुरुषों से उत्तम (पुरुषोत्तम) है वह 'ईश्वर' है।

व्याख्या—इस सूत्र में पतंजलि ईश्वर की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वह ईश्वर पाँचों प्रकार के क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), चारों प्रकार के कर्म (पुण्य, पाप, पुण्य और पाप मिश्रित तथा पुण्य-पाप से रहित) कर्म विपाक (कर्मो के फल) तथा कर्मो के आशय (कर्मों के संस्कार) के सम्बन्धों से रहित है जबकि जीव का इनसे अनादि सम्बन्ध है। इन विकारों से युक्त को ही 'जीव' कहा जाता है किन्तु ईश्वर का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब विकार

हो जाती हैं। मनुष्य में जो थोड़ी बहुत ज्ञान शक्ति है वह उसी ईश्वर से है। यदि मनुष्य में वह ईश्वर न होता तो उसके ज्ञान का आधार ही नहीं रहता। किन्तु ज्ञान प्राप्ति के बाद भी मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो जाता क्योंकि जीव की अपनी सीमा है जैसे समुद्र का जल घड़े में भरने पर वह समुद्र के जल जैसा तो है किन्तु समुद्र जैसी विशालता उसमें नहीं है। जीव और ईश्वर में यही अन्तर है। इसलिए जीव को 'अल्पज्ञ' तथा ईश्वर को 'सर्वज्ञ' कहा जाता है। जीव सीमित है तथा ईश्वर असीम है।

सूत्र—२६

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(वह ईश्वर सबके) **पूर्वेषाम्**=पूर्वजों का; **अपि**=भी; **गुरुः**=गुरु है; **कालेन अनवच्छेदात्**=क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं है।

अनुवाद— *वह ईश्वर पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं है (अनादि है)।*

व्याख्या—ईश्वर सर्वज्ञ है, वही ज्ञान का भंडार है। सभी ज्ञान उसी से आया है। उसका काल से अवच्छेद नहीं है क्योंकि वह अनादि हैं। सब का गुरु ब्रह्मा को माना जाता है किन्तु सर्ग के आरम्भ में उत्पन्न होने के कारण उसका भी काल से अवच्छेद है इसलिए वह ईश्वर ब्रह्मा का भी गुरु है। इस सूत्र में कहा गया है कि वह ईश्वर पूर्वजों का भी गुरु है। असली गुरु तो ईश्वर ही है। अन्य जागतिक गुरु भी उसी की प्रेरणा से उपदेश देते हैं इसलिए इन गुरुओं को भी ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहा जाता है। आत्मज्ञान के बाद ही कोई गुरु होने का अधिकारी होता है क्योंकि तभी उसमें ईश्वरीय ज्ञान का अनुभव होता है। ऐसा गुरु ईश्वर ही है। गुरु शब्द भारतीय अध्यात्म का है। अंग्रेजी में इसकी अभिव्यक्ति के लिए कोई शब्द नहीं है। अंग्रेजी में इसे 'टीचर' ही कहा जाता है।

बल्कि चेतन है। वही चेतन सत्ता समस्त विश्व का कारण है। जिस प्रकार वैज्ञानिक कहते हैं कि आरम्भ में ऊर्जा ही थी उसी के घनीभूत होने से पदार्थ दिखाई देते हैं तथा उनका रूपान्तरण पुनः ऊर्जा में हो सकता है ठीक इसी प्रकार की भाषा में अध्यात्म कहता है कि सृष्टि के आरम्भ में एक ही चेतन तत्व था जिसे 'ब्रह्म' कहा जाता है। यह सृष्टि उसी का फैलाव मात्र है। सृष्टि के अन्त में पुनः वही क्रम शेष रहेगा। इस चेतन तत्व को विभिन्न मतावलम्बियों ने विभिन्न नाम दिये हैं। उपनिषद इसे 'ब्रह्म' कहता है, सांख्य इसे 'पुरुष' कहता है, कबीर ने इसे 'राम' कहा, इस तत्व के ऐश्वर्य के कारण इसे 'ईश्वर' कहा गया, सभी आत्माओं में श्रेष्ठ होने से इसे 'परमात्मा' कहते हैं, शैवों ने इसी तत्व को 'शिव' कहा है। इनके सिवाय भी उसके अनेक नाम दिये हैं जैसे अक्षर, आत्मा, परमेश्वर, नारायण, भगवान्, शेष आदि। किन्तु ये सब नाम उसके एक-एक गुण को प्रकट करने वाले हैं जब कि वह ईश्वर अनन्त गुणों वाला है। इसलिए उनका कोई नाम हो ही नहीं सकता। नाम के घेरे में बाँधने से वह भी संकीर्ण हो जाता है जबकि वह इतना विराट है कि उसे नाम, रूप, परिभाषा आदि की संकीर्णता में बाँधना मनुष्य की संकीर्ण बुद्धि का ही परिचायक है। वास्तव में उसका न कोई नाम है, न रूप, न आकार न गुण बल्कि सभी उसी से हैं। ऐसे चेतन तत्व को पतंजलि 'प्रणव' (ॐकार) कहते हैं। यही उसका उपयुक्त नाम है। वेदों में भी इसी नाम से उसे व्यक्त किया गया है। ॐकार कोई शब्द नहीं है बल्कि ध्वनि है जो आरम्भ में थी। यह आहत नहीं अनाहत थी। योगियों को ध्यान तथा समाधि में किसी आकार वाला परमात्मा दिखाई नहीं देता। जो दिखाई देता है वह मानसिक कल्पना मात्र है इसीलिए आद्य शंकराचार्य ने ऐसे दिखाई देने वाले परमात्मा को भी माया (भ्रम) कहा है। उस चेतन सत्ता का कोई नाम देना उपयुक्त नहीं है। किन्तु आवश्यकता होने पर अभिव्यक्ति के लिए नाम देना ही पड़े तो (ॐकार) ही उसका सर्वश्रेष्ठ नाम हो

सकता है। इसीलिए कई धर्मों ने इसे ओम्, ओंकार, आमीन आदि नाम से स्वीकार किया है। आकृतियों के नाम दिये जा सकते हैं किन्तु ईश्वर निराकार होने से उसका नाम देने से उसमें भी आकृति की भ्रान्ति होती है। इसीलिए सभी नाम भ्रान्तिपूर्ण हैं। वह ईश्वर केवल सत्ता मात्र है। सृष्टि की समस्त सत्ताएँ उसी से हैं। वह कोई व्यक्ति जैसा नहीं कि स्वर्ग में बैठा है, न सम्राट जैसा है कि न्याय करता है, दण्ड और पुरस्कार देता है, जल-जला उठाता है, न कोई उसका निश्चित न्याय का दिन है कि एक दिन सबका न्याय करना है बाकी सोता रहता है। ये सब भ्रान्तियाँ उसका नाम देने से हुईं जिससे उसको व्यक्ति जैसा समझकर ये सभी व्याख्याएँ कर डालीं। इसलिए पतंजलि ने उसका 'प्रणव' (ओंकार) नाम देना उचित समझा। यही उसका वाचक है। यह भी उसका नाम नहीं है बल्कि एक सूक्ष्म ध्वनि है जो अक्षर है। उसका कभी नाश नहीं होता। गुरु नानक ने भी उस परम सत्य (परमात्मा) को ओंकार नाम दिया है। उसका यही एक सत्य नाम है।

सूत्र—२८

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

तज्जपः=उस ओंकार का जप (और); **तदर्थभावनम्**=उसके अर्थस्वरूप परमेश्वर की भावना (करनी चाहिये)।

अनुवाद— *उस ओ३म्कार का जप और उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर की भावना करनी चाहिए।*

व्याख्या—यहाँ पतंजलि इस ओंकार को साधन रूप में प्रयोग करने को कहते हैं कि ईश्वर शरणागति (ईश्वर प्रणिधान) से जो द्वार खुलते हैं जिससे साधक मोक्ष का अधिकारी बनता है किन्तु ॐ का जप एवं ध्यान भी किया जा सकता है। क्योंकि नाम स्मरण से भी नामी के साथ तादात्म्य होने में सहायता मिलती है। ओंकार के बार-

से जो ध्वनि तरंगें उठतीं हैं उसका उस ईश्वर (ॐकार-स्वरूप) की तरंगों के साथ साम्य होने से उपलब्धि शीघ्र होती है ॐकार के जप के साथ ही उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर का चिन्तन भी करने से चित्त की एकाग्रता शीघ्र होकर वृत्तियों के लय की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। अन्य किसी मन्त्र अथवा नाम स्मरण से केवल मन मजबूत होता है किन्तु ॐकार के जप और उसके स्वरूप का ध्यान करने से मन विसर्जित होता है। इसलिए जप और ध्यान के लिए यह सर्वोत्तम विधि है। निर्बीज समाधि के लिए ईश्वर शराणागति, तथा ॐकार का जप और ध्यान का सर्वाधिक महत्व पतंजलि ने स्वीकार किया है।

ईश्वर की सत्ता अर्थात् उस चेतन सत्ता को सभी धर्मो ने स्वीकार किया है चाहे नाम, स्वरूप, गुणों आदि के वर्णन में भिन्नता हो, ये धर्म हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई कुछ भी हो, ईश्वर में विश्वास करते हैं। भक्ति, तन्त्र, सूफी साधना आदि बिना ईश्वर के हो ही नहीं सकती। योग ऐसी विधि है जिससे बिना ईश्वर के भी साधना सम्भव है किन्तु पतंजलि ने इन पाँच सूत्रों में ईश्वर की आवश्यकता अनुभव की किं इससे निर्बीज समाधि की शीघ्र उपलब्धि होती है। जो साधक बिना ईश्वर शरणागति के चलते हैं उनका अहंकार अधिक बढ़ जाता है। एवं बिना अहंकार को गिराये और कुछ हो जाए किन्तु अद्वैत की उपलब्धि किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती। धर्म में सर्वोपरि उपलब्धि अद्वैत ही है। भारतीय धर्म, सूफी, तान्त्रिक, थियोसाफी आदि की मान्यता अद्वैत की ही है। द्वैतवादी धर्म अधूरे हैं। अतः योग की पूर्णता भी ईश्वर के बिना सम्भव नहीं है।

सूत्र—२९

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराया भावश्च।

ततः=उक्त साधन से; **अन्तरायाभावः**=विघ्नों का अभाव;

खोल दिये। नानक ने भी ज्ञान खण्ड में आखिरी ऊँचाई अद्वैत मानी है जहाँ बाहर और भीतर का भेद गिर जाता है। कबीर ने भी घड़ा फूटने पर बाहर और भीतर के जल को एक होना बताया है। यही अद्वैत का अनुभव है। जब सभी वासनाएँ गिर जाती हैं तो केवल 'ओ३म्' की ध्वनि शेष रह जाती है। पतंजलि ने इसी को 'ईश्वर' कहा है। ओ३म् के जप के साथ ध्यान आवश्यक है वरना साधक नींद में चला जाएगा। इसलिए इसका जप और ध्यान मिलकर पूर्व विधि है।

सूत्र—३०

व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त विक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि=व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये नौ; (जो कि) **चित्तविक्षेपाः**=चित्त के विक्षेप हैं; **ते**=वे ही; **अन्तरायाः**=अन्तराय (विघ्न) हैं।

अनुवाद—*व्याधि, स्त्यान (अकर्मण्यता) संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति (विषयों में तृष्णा बने रहना) भ्रान्ति दर्शन (मिथ्याज्ञान) अलब्ध भूमिकत्व (समाधि की अप्राप्ति), अनवास्थितत्व (समाधि में चित्त की चंचलता), ये नौ जो कि चित्त के विक्षेप हैं वे ही 'विघ्न' हैं।*

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्र में जिन विघ्नों के अभाव की बात कही गई है वे इस सूत्र में स्पष्ट किये गए हैं कि साधन काल में साधक के सामने ये नौ प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं जिससे साधना में अवरोध पैदा होता है। ये विघ्न चित्त के विक्षेप ही हैं। इनसे चित्त चलायमान होकर ध्येय मार्ग से हट जाता है अथवा साधना का क्रम बन्द हो जाता

आ जाना, शरीर के अंगों में कम्पन होना तथा श्वांस लेने अथवा छोड़ने में कठिनाई होना या तीव्रता आ जाना मुख्य है। ये विघ्न भी चित्त की विक्षिप्तता से ही आते हैं। स्वच्छ चित्त में ये नहीं होते। इन विघ्नों से यह ज्ञात हो जाता है कि साधन में कुछ न कुछ गड़बड़ी है, वह ठीक से नहीं चल रहा है। जिस प्रकार ज्वर आने पर ज्ञात होता है कि भीतर कुछ गड़बड़ है, ज्वर तो उस का संकेत मात्र है इसी प्रकार से विघ्न यह संकेत करते हैं कि योग साधन ठीक से नहीं चल रहा है। योग साधना में ऐसे विघ्नों का इलाज ऐलोपेथी से नहीं करवाना चाहिए बल्कि यौगिक क्रिया से ही इसका उपचार ठीक रहता है जो अगले सूत्र में बताया गया है।

सूत्र—३२

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः।

तत्प्रतिषेधार्थम्=उनको दूर करने के लिये; **एकतत्त्वाभ्यासः**=एकतत्त्व का अभ्यास (करना चाहिये)।

अनुवाद— *उनको दूर करने के लिए एक तत्व का अभ्यास करना चाहिए।*

व्याख्या—इन विघ्नों को दूर करने के लिए पतंजलि एक तत्व के अभ्यास की बात कहते हैं कि ईश्वर शरणागति यदि पूर्ण विश्वास के साथ होती है तो ईश्वर स्वयं उसका हाथ थाम लेता है। अपने को असहाय मानकर यदि ईश्वर के भरोसे पूर्ण श्रद्धा के साथ छोड़ दिया जाए तो वह ईश्वर स्वयं सर्व दुःखों का नाश कर देता है। ऐसा कईयों के साथ हुआ है। यदि अभ्यास ही आवश्यक हो तो ओम् का उच्चारण करना चाहिए। इसकी ध्वनि की तरंगों से भीतर परिवर्तन होता है जिससे सभी बाधाएँ दूर हो जाती हैं। शरीर के भीतर एक विद्युत प्रवाह चलता रहता है। जब उसमें रुकावट आती है तो बीमारी है। इसी विद्युत प्रवाह

की ओम की ध्वनि से ठीक किया जा सकता है। तथा मनुष्य स्वस्थ हो जाता है। इसके उच्चारण से वाचा सिद्धि भी होती है। इससे काम भावना भी शान्त होती है। तथा चित्त शान्त होता है। अतः योग साधक को इस स्थिति में उस एक ही तत्व ओम का अभ्यास करना चाहिए। इससे ये उपद्रव अपने आप शान्त हो जाएँगे। ये उपद्रव अशांत चित्त के लक्षण मात्र हैं।

सूत्र—३३

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्।

सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्=सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा—ये चारों जिनके क्रम से विषय हैं, ऐसी; **मैत्रीकरकरुणामुदितोपेक्षाणाम्**=मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की; **भावनातः**=भावना से; **चित्तप्रसादनम्**=चित्त स्वच्छ हो जाता है।

अनुवाद— *सुखी जनों से मित्रता, दुखियों पर दया, पुण्यात्माओं में हर्ष और पापियों से उपेक्षा की भावना से चित्त प्रसन्न होता है।*

व्याख्या—चित्त सत्व, रज तथा तम गुणों से गठित हुआ है इसलिए इसमें तीनों गुण विद्यमान हैं। यह सत्व-गुण ही विद्या है तथा तमोगुण अविद्या। सामान्य मनुष्य में दोनों विद्यमान हैं। इन गुणों के ही कारण चित्त वृत्तियाँ बनती हैं जिनकी तरंगें मनुष्य जीवन को प्रभावित करती हैं। तमोगुण युक्त वृत्ति विपर्यय कहलाती है। अनेक जन्म की भोग वृत्ति के कारण निर्मित संस्कार मनुष्य को सदा भोगों की ओर ही आकर्षित करते हैं। इसका मुख्य कारण अहंकार है। मनुष्य को सबसे बड़ा भ्रम यही है कि मैं अलग हूँ, सृष्टि से भिन्न मेरा अस्तित्व है, अन्य से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, यह सृष्टि एक इकाई नहीं है बल्कि अनेक इकाईयों

का संगठन मात्र है। इसी अहंकार के कारण कई धर्मों ने आत्माओं को भी अनेक मान लिया। अहंकार के गिरे बिना अद्वैत की उपलब्धि नहीं हो सकती। योग साधक को चाहिए कि विद्या रूपी गुणों का विकास करे तथा अविद्यादि दोषों को दूर करे। मित्रता, दया, हर्ष, करुणा, अहिंसा आदि विद्या हैं तथा राग, द्वेष, हिंसा, घृणा, निद्रा, आदि अविद्या है। विद्यादि गुणों के सेवन से चित्त प्रसन्न होकर निर्मल होता है जिससे वह शान्त हो जाता है किन्तु अविद्यादि दोषों से वह और कलुषित होता है जिससे वह नित्य नई-नई चिन्ताओं और दुःखों से ग्रस्त रहता है। ऐसा चित्त कभी शान्त नहीं हो सकता। ये अविद्यादि दोष केवल व्यक्ति के अहंकार को तुष्ट करते हैं किन्तु उसे आत्मज्ञान से वंचित कर देते हैं। जो मनुष्य दूसरों को सुखी देखकर ईर्ष्या करता है वह स्वयं दुःखी होता है। वह दूसरों की निन्दा, आलोचना करता है, तिरस्कार व घृणा करता है, हिंसा करता है ये सब विकृत मन के लक्षण हैं क्योंकि भीतर जो भरा है वही बाहर प्रकट होता है। ये चिह्न है जिससे पहचाना जा सकता है कि उसके भीतर क्या भरा है। इनसे उस व्यक्ति को लाभ कुछ नहीं होता बल्कि उसका जीवन नरक बन जाता है। इन सबसे केवल उसके अहंकार को तुष्टि होती है कि अन्य सब बुरे हैं, मैं अच्छा हूँ। जो अच्छा नहीं है वही अपने को अच्छा बताने के लिए ये नकारात्मक उपाय काम में लेता है। जो अच्छा है उसे अपने को अच्छा सिद्ध करने के लिए ऐसे उपायों की आवश्यकता ही नहीं होती। ये ऐसे अवगुण हैं जो दूसरों का कुछ भी अहित नहीं कर सकते बल्कि स्वयं का अहित अवश्य करते हैं। सबकी निन्दा करके वे अपने लिए गुणों के द्वार ही बन्द कर देते हैं। हमेशा निन्दा, घृणा, ईर्ष्या से भरा चित्त भी वैसा ही हो जाता है क्योंकि उसके सारे संस्कार, विचार एवं भावना से ही बनते हैं।

इसलिए पतंजलि चित्त की निर्मलता के लिए विधायक (पोजीटिव) तत्वों की बात कहते हैं कि सुखी जनों से मित्रता करना, दुःखियों पर

दया करना, पुण्यात्मा पुरुषों में प्रसन्नता की भावना करना तथा पापियों में उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है। जब तक चित्त निर्मल नहीं होता तब तक वह अशांत बना ही रहेगा। ऐसे चित्त वाले को आत्मज्ञान का फल नहीं मिल सकता। इन विधायक तत्वों से ही साधक शुद्धता को प्राप्त होता है। इनसे घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि मलों का अपने आप नाश हो जाता है।

सूत्र—३४

प्रच्छर्दनविधारणाभ्याँ वा प्राणस्य।

वा=अथवा; **प्राणस्य**=प्राण वायु को; **प्रच्छर्दनविधारणा-भ्याम्**=बारम्बार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी (चित्त निर्मल होता है)।

अनुवाद— *अथवा प्राणवायु को बार-बार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी चित्त प्रसन्न होता है।*

व्याख्या—महर्षि पतंजलि इस सूत्र में कहते हैं कि यदि यह साधन कठिन हो, नहीं किया जा सके अथवा करने में लम्बा समय लगे तो श्वांस का प्रयोग किया जा सकता है। प्राणवायु जो श्वांस के द्वारा हम भीतर लेते हैं तथा बाहर छोड़ते हैं उसे बार-बार बाहर निकालने तथा थोड़ी देर बाहर ही इसे रोके रखने का अभ्यास करना चाहिए। यह प्राणायाम की एक विधि है। इससे चित्त निर्मल तथा शान्त हो जाता है। प्राणायाम का प्रयोग विधिपूर्वक ही करना चाहिए तथा गुरु से सीख लेना चाहिए वरना इसके दुष्परिणाम भी होते हैं जिससे शरीर में विकृति पैदा होकर वह रोग ग्रस्त भी हो सकता है। इसकी विधि है—सुखासन, सिद्धासन अथवा पद्मासन में बैठे, रीढ़ की हड्डी सीधी रहे, कमर सीधी रहे, गर्दन सीधी रहे। फिर श्वांस गहरी भीतर खींचे तथा उसे नाभि तक ले जावे। फिर उसे जोर से बाहर फेंके, फिर उसे थोड़ी देर बाहर ही

रोके रखें (यह बाह्य कुम्भक है), पेट को भीतर की ओर दबावे जिससे अधिक तम वायु बाहर निकल जाये। फिर गहरी साँस खींचे व फिर छोड़े। इस क्रिया को बार-बार करने से विचारों में परिवर्तन आ जाता है तथा नाड़ियों का दूषित मल बाहर निकलता है जिससे चित्त प्रसन्न एवं निर्मल हो जाता है। क्रोध भी शान्त हो जाता है। इस प्रयोग को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। पहली ही बार अधिक समय नहीं करना चाहिए।

सूत्र—३५

विषयवती वा प्रवृतिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी।

विषयवती=विषयवाली; **प्रवृत्तिः**=प्रवृत्ति; **उत्पन्ना**=उत्पन्न होकर वह; **वा**=भी; **मनसः**=मन की, **स्थितिनिबन्धनी**=स्थिति को बाँधनेवाली हो जाती है।

अनुवाद— *अथवा विषय वाली प्रवृत्तियाँ (गन्ध, रूप, रस, शब्द, स्पर्श आदि) उत्पन्न होकर मन की स्थिति को बाँधने वाली हो जाती हैं।*

व्याख्या—दूषित मन कभी स्थिर नहीं रहता। जब तक चित्त में तरंगें उठती हैं वह कभी शान्त नहीं हो सकता। शुद्ध निर्मल चित्त ही शान्त होता है जिसके उपाय पतंजलि ने ऊपर बताये हैं। चित्त में उठी तरंगों का नाम ही मन है। मन के स्थिर एवं शान्त होने का अर्थ है चित्त में तरंगें अब नहीं उठ रही हैं। इस स्थिति को ही समाधि अवस्था कहते हैं। मुक्ति की प्रक्रिया इसके बाद आरम्भ होती है। सूत्र ३५ से ४० तक मन के स्थिर होने के और भी उपाय बताए गये हैं।

इस सूत्र में कहा गया है कि मन को बाहरी विषयों से हटा कर जब भीतर की ओर मोड़ दिया जाता है तो उसे दिव्य विषयों का साक्षात् होना आरम्भ हो जाता है। यह सब ध्यान की अवस्था में होता है। ज्यों-ज्यों मन का प्रवाह भीतर की ओर होता है साधक को कई अतीन्द्रिय अनुभव

होने आरम्भ हो जाते हैं। इन दिव्य विष्यों का अनुभव करने वाली वृत्ति को 'विषयवती प्रवृत्ति' कहते हैं। इसमें साधक को कभी विभिन्न प्रकार के वाद्यों के शब्द सुनाई देते हैं, विभिन्न प्रकार की आवाजें सुनाई देती हैं, कभी किसी साधु, महात्मा, धूनी तथा अपने इष्टदेव के रूप में दर्शन भी होते हैं, कभी विभिन्न प्रकार के स्वाद आने लगते हैं, कभी विभिन्न प्रकार की गन्ध आने लगती है, कभी-कभी सूर्य, चन्द्रमा, सितारे, दीप, मणि आदि का प्रकाश दिखाई देता है। इन सब दिव्य अनुभवों से साधक की रुचि बढ़ती है, उसका विश्वास दृढ़ हो जाता है कि उसकी साधना ठीक से चल रही है। यह एक नई दुनिया में प्रवेश है जिसे ध्यान की दुनिया कहते हैं। इस दुनिया में प्रवेश करने के बाद जहाँ-जहाँ गुरु कहे, वहाँ-वहाँ ध्यान को केन्द्रित करने से ये चीजें जब चाहें देखी, सुनी जा सकती हैं। ये सब मन को स्थिर करने वाली हैं जिससे आत्म चिन्तन के अभ्यास में सहायता मिलती है। ये अनुभव 'धारणा' काल के हैं। इसके बाद ध्यान और समाधि की स्थिति आती है।

सूत्र—३६

विशोका वा ज्योतिष्मती।

वा=इसके सिवा (यदि); **विशोका**=शोकरहित; **ज्योतिष्मती**=ज्योतिष्मती प्रवृत्ति (उत्पन्न हो जाय तो वह) भी मन की स्थिति करनेवाली होती है।

अनुवाद— इसके सिवाय शोक रहित प्रकाश वाली प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाए तो वह भी मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है। (मन को स्थिर करने वाली होती है।)

व्याख्या—इस सूत्र में बताया गया है कि इन पाँच विषय वाली प्रवृत्तियों के सिवाय ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से साधक को भीतर का प्रकाश दिखाई देने लगता है। यह प्रकाश आत्मा का ही प्रकाश

है जो सूर्य, चाँद आदि के प्रकाश से सर्वथा भिन्न होता है। यह शोक रहित होता है। इससे भी साधक की रुचि बढ़ जाती है। चित्त की निर्मलता होने पर अथवा हृदय कमल में ध्यान करने से भी यह प्रकाश दिखाई देता है। वैसे विषय वाली प्रवृत्ति में भी प्रकाश दिखाई देता है किन्तु यह प्रकाश अधिक स्थिरता वाला, शोक रहित तथा शांत होता है।

सूत्र—३७

वीतरागविषयं वा चित्तम्।

वीतरागविषयम्=वीतराग को विषय करनेवाला; **चित्तम्**=चित्त; **वा**=भी (स्थिर हो जाता है)।

अनुवाद— *अथवा रागद्वेष रहित महात्माओं के शुभ चरित्र का ध्यान करने से भी मन स्थिर होता है।*

व्याख्या—यहाँ मन को स्थिर करने का एक और उपाय बताया गया है कि जिस महात्मा के राग-द्वेष सर्वथा नष्ट हो गये हैं ऐसे वीतरागी का ध्यान करने से भी मन स्थिर हो जाता है। चित्त में जो कुछ भरा हुआ है उनकी विचार तरंगें उठती हैं। ये विचार ही मन है। अच्छे, बुरे तथा मिश्रित विचार इसमें निरन्तर आते रहते हैं। इन विचारों की क्रियान्विति शरीर तथा इन्द्रियों के माध्यम से होती है। इसलिए ये विचार ही कर्म के आधार हैं। कर्म के बाद उसका अच्छा-बुरा फल होता है जो पुनः चित्त तक पहुँचता है। इससे फिर नये विचार उत्पन्न होते हैं। यह दुष्ट चक्र जन्मों-जन्मों तक चलता रहता है एवं चित्त में निरन्तर विक्षेप बने रहते हैं। चित्त को शान्त करने के लिए इसे पहले नकारात्मक से विधायक की ओर लगाना चाहिए, विध्वंस से निर्माण की ओर लगाना चाहिए। उसके बाद विधायक का भी निषेध कर देना चाहिए तभी पूर्ण शान्ति होती है। इसके कई उपाय पूर्व में बताये गये हैं। यहाँ वीतरागी महात्मा के ध्यान करने को कहा गया है। हम जिस प्रकार के व्यक्ति का

हूँ तो इस स्वप्न के ज्ञान से भी मन स्थिर हो जाता है। यह भी विषयवाली प्रवृत्तियों जैसा ही दिव्य अनुभव है जिससे साधक के उत्साह में वृद्धि होती है। यह सजगता की साधना से सम्भव है। सोते समय नींद जिस समय आती है उस स्थिति पर निरन्तर सजगता से ध्यान दिये जाने पर स्वप्न एवं निद्रा का ज्ञान हो जाता है। योग-निद्रा के अभ्यास से भी यह सम्भव है। ऐसी स्थिति आने पर ही कहा जाता है कि योगी नींद में भी जागा हुआ रहता है तथा अज्ञानी जागा हुआ भी निद्रा में ही रहता है। उसे कुछ भी ज्ञात नहीं होता कि मैं क्या हूँ? तथा क्या कर रहा हूँ?

सूत्र—३९

यथाऽभिमतध्यानाद्वा।

यथाऽभिमतध्यानात्=जिसको जो अभिमत हो, उसके ध्यान से; **वा**=भी (मन स्थिर हो जाता है)।

अनुवाद— *अभीष्ट विषय के ध्यान से भी मन स्थिर होता है।*

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्र में महर्षि पतंजलि ने मन को स्थिर करने के अनेक उपाय बताए हैं। जो उपाय जिसकी रुचि के अनुकूल हो उसे उसी उपाय द्वारा मन को स्थिर करना चाहिए। इस सूत्र में महर्षि कहते हैं कि इसके अलावा भी जिन्हें ये साधन रुचिकर न लगे वे अपनी पसन्द के विषयों में ध्यान करके मन को स्थिर कर सकते हैं। जैसे अपने इष्ट देवता का ध्यान, राम, कृष्ण, शिव, गणेश, हनुमान तथा अन्य देवता, नाभि, श्वांस, हृदय, भृकुटि आदि पर ध्यान, अपने गुरु की प्रतिमा अथवा चित्र पर ध्यान, सन्तों के चित्रों पर ध्यान आदि। इसमें मुख्य बात है मन का स्थिर होना। ये सब माध्यम हैं। माध्यम अपनी रुचि के अनुसार कुछ भी चुना जा सकता है। यही एक तत्व का अभ्यास है। इनमें कई चीजें एक साथ नहीं मिलानी चाहिये वरना ध्यान होगा नहीं। ईश्वर को सर्वत्र मानकर कहीं भी ध्यान को केन्द्रित किया जा सकता है।

सूत्र—४१

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।

क्षीणवृत्तेः=जिसकी समस्त बाह्य वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे; **मणेः इव अभिजातस्य**=स्फटिकमणि की भाँति निर्मल चित्त का; **ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु**=जो ग्रहीता (पुरुष), ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य-(पंचभूत और विषयों-) में; **तत्स्थतदञ्जनता**=स्थित हो जाना और तदाकार हो जाना है, यही; **समापत्तिः**=सम्प्रज्ञात समाधि है।

अनुवाद— *जिनकी समस्त बाह्य वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं ऐसे स्फटिक मणि की भाँति निर्मल चित्त का ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में स्थिर एवं तदाकार को जाना ही 'सम्प्रज्ञात' समाधि है।*

व्याख्या—उपर्युक्त विधियों के प्रयोग से जब चित्त की समस्त बाह्य वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं तो उसे मन की स्थिर अवस्था कहते हैं। बाह्य वृत्तियों के कारण ही चित्त तरंगित रहता है जिनके कारण आत्मा का बिम्ब नहीं दिखाई देता। ये तरंगें ही उस पर जमी हुई धूलि है जो साफ हो जाती है तो चित्त स्फटिक मणि की भाँति निर्मल हो जाता है। चित्त की ऐसी निर्मल अवस्था में ग्रहीता (आत्मा), ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य (पंचभूत तथा विषयों) में अर्थात ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में स्थित और तदाकार हो जाता है। इसी को 'समापत्ति' अर्थात 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। इस स्थिति में मन पूर्ण नियन्त्रण में होता है तथा उसे जिस वस्तु में स्थिर किया जाए उसी के तदाकार हो जाता है। यही शुद्ध मन की अवस्था है। यह चित्त वासना की तरंगों के कारण ही विषयों की ओर भागता था किन्तु अब यह पंखहीन पक्षी की भाँति हो जाता है जो वासना के पंखों के टूट जाने से उड़ नहीं सकता। इसे 'क्षीण

वृत्ति चित्त' कहा जाता है। यही इसका सच्चा स्वभाव है। वृत्तियाँ तो अविद्या के कारण थीं। अब यह केवल दृष्टा मात्र रह जाता है। तटस्थ होकर सब देखता रहता है।

सूत्र—४२

तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्ति।

तत्र=उनमें; **शब्दार्थज्ञानविकल्पैः**=शब्द, अर्थ, ज्ञान—इन तीनों के विकल्पों से; **संकीर्णा**=संकीर्ण—मिली हुई; **समापत्तिः**=समाधि; **सवितर्का**=सवितर्क है।

अनुवाद— *जहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान अभिन्न ज्ञात हो वह 'सवितर्क समाधि' है।*

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्र में वर्णित 'सम्प्रज्ञात समाधि' के चार चरण हैं। सवितर्क (सविकल्प), निर्वितर्क (निर्विकल्प), सविचार, निर्विचार, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत जो वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता के चार चरणों में पूर्ण होती है जिसका वर्णन पहले सूत्र १७ में किया गया है। इस सूत्र में 'सवितर्क समाधि' का और वर्णन किया गया है कि इस समाधि में मन और इन्द्रियों द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म विषय ग्रहण करने में आते हैं। जब किसी स्थूल विषयों का ध्यान किया जाता है तो उससे होने वाले अनुभव में उसके नाम, रूप तथा ज्ञान के विकल्पों का मिश्रण रहता है। तीनों की एक ही साथ चित्त में प्रतीति होती है। इसलिए इस समाधि को 'सवितर्क' अथवा 'सविकल्प समाधि' कहते हैं। इसमें मन तदाकार तो हो जाता है किन्तु उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान का विकल्प बना रहता है अर्थात् तीनों एक साथ ध्यान में आते हैं। इसमें भी मन की चंचलता थोड़ी मात्रा में रहती है कि एक पर ध्यान जमाने पर तीनों बातें एक साथ ध्यान में आ जाती हैं। ये तीनों अभिन्न ज्ञात होती हैं। यह नीचे दर्जे की है।

सूत्र—४३

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवाऽर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

स्मृतिपरिशुद्धौ=(शब्द और प्रतीति की) स्मृति के भलीभाँति लुप्त हो जाने पर; **स्वरूपशून्या**=अपने रूप से शून्य हुई के; **इव**=सदृश; **अर्थमात्रनिर्भासा**=केवल ध्येयमात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष करानेवाली (चित्त की स्थिति ही); **निर्वितर्का**=निर्वितर्क समाधि है।

अनुवाद— *स्मृति के शुद्ध होने पर स्वरूप से रहित अर्थ मात्र को प्रकाश करने वाली चित्त की स्थिति ही 'निर्वितर्क समाधि' है।*

व्याख्या—सवितर्क समाधि में स्थूल विषय के नाम, रूप तथा ज्ञान का-एक साथ स्मरण होता है। तीनों अभिन्न ज्ञात होते हैं किन्तु इसे अधिक सूक्ष्म किये जाने पर शब्द, अर्थ और ज्ञान की अलग-अलग प्रतीति होती है। एक साथ तीनों की प्रतीति नहीं होती इसे 'निर्वितर्क समाधि' कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'निर्विकल्प समाधि' भी है। इसमें दूसरा विकल्प रहता ही नहीं। यही स्मृति परिशुद्धि है। यह ऊँची स्थिति है।

सूत्र—४४

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्म विषया व्याख्याता।

एतया एव=इसीसे (पूर्वोक्त सवितर्क और निर्वितर्क के वर्णन से ही); **सूक्ष्मविषया**=सूक्ष्म पदार्थों में की जानेवाली; **सविचारा**=सविचार (और); **निर्विचारा**=निर्विचार समाधि का; **च**=भी; **व्याख्याता**=वर्णन किया गया।

अनुवाद— *इसी सवितर्क निर्वितर्क समाधि के द्वारा सूक्ष्म विषयक सविचार और निर्विचार समाधि की भी व्याख्या की हुई समझनी चाहिये।*

व्याख्या—जिस प्रकार स्थूल ध्येय विषयों में की जाने वाली समाधि सवितर्क और निर्वितर्क होती है उसी प्रकार सूक्ष्म ध्येय विषयों में की जाने वाली समाधि 'सविचार' और 'निर्विचार' होती है। जब इन सूक्ष्म विषयों में चित्त को स्थिर किया जाता है। तो उसके नाम, रूप और ज्ञान के विकल्पों का मिला जुला अनुभव होता है तो उसे 'सविचार समाधि' कहते हैं किन्तु जब इनकी अलग-अलग प्रतीति होती है तो इसे 'निर्विचार समाधि' कहते हैं।

सूत्र—४५

सूक्ष्म विषयत्वं चाऽलिंगपर्यवसानम्।

च=तथा; **सूक्ष्मविषयत्वम्**=सूक्ष्मविषयता; **अलिङ्गपर्यवसानम्**=प्रकृतिपर्यन्त है।

अनुवाद— *और सूक्ष्म विषयता अलिंग प्रकृति पर्यन्त हैं।*

व्याख्या—सृष्टि के स्थूल विषय हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा इनसे सूक्ष्म हैं पृथ्वी की गन्ध, जल का रस, अग्नि का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द। इन्हें तन्मात्राएँ भी कहते हैं। इन सबका, तथा मन एवं इन्द्रियों से सूक्ष्म 'अहंकार' है। 'अहंकार' से सूक्ष्म 'महत्तत्व' है जो लिंग मात्र है और महत्तत्व से सूक्ष्म 'प्रकृति' है जो अलिंग स्वरूप है। इस क्रम से सूक्ष्म से ही स्थूल का निर्माण हुआ है किन्तु ये सब प्रकृति जन्य है। यह 'प्रकृति' सूक्ष्मता ही अवधि है। इन पंचतत्वों से लेकर प्रकृति पर्यन्त किसी भी पदार्थ को लक्ष्य बनाकर उसमें की गई समाधि को 'सविचार' और 'निर्विचार' समाधि कहते हैं। पुरुष (आत्मा) इस प्रकृति से भी सूक्ष्म है। यह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है तथा यह दृश्य पदार्थो में भी नहीं है। समाधि में तो कुछ दिखाई देता है वह सब प्रकृति ही है। यह कारण रूप प्रकृति अव्यक्त (शून्य) है। समाधि में शून्य का आभास होना इस प्रकृति का ही आभास है जो सृष्टि का

कारण है। इससे भिन्न वह चेतन तत्व (पुरुष) है जिसके संयोग के बि
प्रकृति अपना कार्य नहीं कर सकती तथा प्रकृति के बिना वह चैतन
क्रियाहीन हैं। चेतन का सारा कार्य प्रकृति के माध्यम से ही होता है

सूत्र—४६

ता एव सबीजः समाधिः।

ता एव=वे सब-की-सब ही; **सबीजः**=सबीज; **समाधिः**
समाधि हैं।

*अनुवाद— वे सब की सब ही (उपर्युक्त चारों) 'सबीज समाधि
हैं।*

व्याख्या—ऊपर सम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन किया गया है जिस
सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार समाधियाँ आती हैं। पूर्व के
सूत्र १७ से आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत समाधि को भी सम्प्रज्ञा
समाधि में लिया गया है। ये सभी समाधियाँ 'निर्विकल्प' तो हैं किन्तु य
'सबीज' ही है। इनमें वृत्तियाँ बीज रूप में चित्त में विद्यमान रहती हैं
सबीज समाधि तक पहुँचने वाले को कैवल्य लाभ नहीं होता क्योंकि
चित्त में वृत्तियों के बीज रह जाने से समय पाकर वे पुनः नये जन्म ग्रहण
का कारण बन सकती है। 'निर्बीज समाधि' के बाद ही पुनर्जन्म की
सम्भावना समाप्त होती है तथा यही कैवल्य अवस्था है। किन्तु सबीज
समाधि में पहुँचे हुए साधक का पतन नहीं होता। बची हुई साधन
अगले जन्म में शीघ्र ही पूरी कर लेता है। इसे 'भव-प्रत्यय' कहते हैं
यहाँ से आगे अभ्यास समाप्त हो जाता है तथा ईश्वर प्रणिधान, ईश्व
जप और ध्यान से ही निर्बीज समाधि सिद्ध हो सकती है। जो ईश्वर में
विश्वास ही नहीं करते, शरणागति में जिनको विश्वास नहीं है वे अपने
अहंकार को बचा लेते हैं जिससे वे सबीज समाधि से आगे नहीं पहुँच
सकते। सबीज से निर्बीज में जाने के लिए अहंकार को गिराना आवश्यक

धारण करने वाली) होती है।

व्याख्या—इस सबीज समाधि में पहुँचकर योगी की बुद्धि 'ऋतम्भरा' हो जाती है—जो वस्तु के सत्य स्वरूप को समझने वाली होती है तथा उसके समस्त संशयों एवं भ्रमों का नाश हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि के आरम्भ से ही योगी को अनुभव होना आरम्भ हो जाता है। योगी को एक-एक सीढ़ी आगे का ज्ञान होता रहता है जैसे सवितर्क से निर्वितर्क का, निर्वितर्क से सविचार का तथा सविचार से निर्विचार का ज्ञान हो जाता है। निर्विचार से उसे अध्यात्म प्रसाद मिलना आरम्भ हो जाता है। आत्मा के आनन्द का स्पष्ट अनुभव होने लगता है। ऐसी निर्मल बुद्धि को 'ऋतम्भरा' कहते हैं। यह सामान्य बुद्धि के पार की स्थिति है तथा आत्मा से सम्बन्धित है जो आत्मा से सीधी संचालित होती है। पहले यह मन की इच्छाओं तथा वासनाओं से संचालित हो रही थी। पहले यह एक छोटी सी प्रकाश किरण थी जो चेतना का थोड़ा-सा प्रकाश ग्रहण कर थोड़े से क्षेत्र में ही प्रकाश करती थी किन्तु अब यह आत्मा के तीव्र प्रकाश को भी ग्रहण कर सकती है। इसमें उसकी कार्य क्षमता बढ़ जाती है। तथा वह आत्मा से आये अनुभवों को भी ग्रहण एवं प्रकाशित कर सकती है।

सूत्र—४९

श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्=श्रवण और अनुमान से होनेवाली बुद्धि की अपेक्षा; **अन्यविषया**=इस बुद्धि का विषय भिन्न है; **विशेषार्थत्वात्**=क्योंकि यह विशेष अर्थवाली है।

अनुवाद— *श्रुति और अनुमान से होने वाली बुद्धि की अपेक्षा इस बुद्धि का विषय भिन्न है क्योंकि यह विशेष अर्थ वाली है।*

व्याख्या—वेद, शास्त्र तथा पुस्तकों के पढ़ने अथवा सुनने से

वस्तु की सामान्य जानकारी मिलती है। ऐसी जानकारी पूर्ण सत्य नहीं होती। देखी गई वस्तु में भी भ्रम हो जाता है वह भी पूर्ण सत्य नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण के आधार कर भी भ्रान्ति हो सकती है। शास्त्र सुनने से उस विषय के स्वरूप का जो निश्चय होता है वह 'श्रुति बुद्धि' है इसी प्रकार अनुमान से जो वस्तु के स्वरूप का निश्चय होता है वह 'अनुमान बुद्धि' है। इन दोनों से वस्तु के स्वरूप का सामान्य ज्ञान ही होता है। पूर्ण ज्ञान इनसे नहीं होता। ऐसी बुद्धि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयों के ज्ञान को ही ग्रहण करने वाली है सूक्ष्म तथा इन्द्रियातीत ज्ञान जो इन्द्रियों का विषय नहीं है वह इसकी पकड़ से नहीं आता। किन्तु इस निर्विचार समाधि में यह प्रज्ञा ऋतम्भरा हो जाती है तो यह वस्तु के वास्तविक तथा सत्य स्वरूप को ग्रहण करने वाली हो जाती है। यही बुद्धि सबसे श्रेष्ठ मानी जाती है। इसका विषय भी भिन्न है। अब यह सीधी आत्मा से आए हुए अनुभवों को ग्रहण करने वाली हो जाती है। पहले इसमें इतनी शक्ति नहीं थी। इसे सामान्य बुद्धि न कहकर 'प्रज्ञा' कहते हैं तथा ऐसा पुरुष 'प्रज्ञावान' कहलाता है। इस प्रज्ञा के आने पर ही विवेक जाग्रत होता है जो सत्यासत्य का निर्णय कर सकता है। इस स्थिति में पहुँचे व्यक्ति में नीर-क्षीर विवेक की शक्ति आती है। ऐसा व्यक्ति ही 'परमहंस' कहलाता है।

सूत्र—५०

तज्जः संस्कारोऽन्य संस्कार प्रतिबन्धी।

तज्जः=उससे उत्पन्न होनेवाला; **संस्कारः**=संस्कार; **अन्य-संस्कारप्रतिबन्धी**=दूसरे संस्कारों का बाध करनेवाला होता है।

अनुवाद— इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अन्य संस्कारों का प्रतिबन्धक है (बाध करने वाला है)।

व्याख्या—जब चित्त की समस्त वृत्तियों की तरंगें शान्त हो जाती

हैं तब चित्त अत्यन्त निर्मल एवं अविद्यादि संस्कारों से रहित हो जाता है। ऐसी स्थिति में पहुँचने पर साधक ही प्रज्ञा ऋतम्भरा हो जाती है। ऐसी प्रज्ञा के उदय होने पर चित्त में जो वासनागत संस्कार थे जिससे वह निरन्तर संसार के भोगों की ओर ही भागता था उनका पूर्ण रूपेण बाध हो जाता है। ऐसे संस्कारों की तरंगें फिर उठती ही नहीं किन्तु इनसे अन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं। जो आत्मज्ञान तथा मुक्ति की ओर ले जाने वाले होते हैं। ऐसा व्यक्ति ही सत्वगुण वाला होता है। उसमें करुणा, दया, अहिंसा आदि सद्गुणों का विकास हो जाता है। मनुष्य संसार में रहकर जो भी सोचता है, अनुभव करता है तथा कार्य करता है। उन सबके संस्कार चित्त में इकट्ठे हुए रहते हैं। ये ही संस्कार मनुष्य को संसार में भटकाने वाले होते हैं। जब इनका बाध हो जाता है तो वह मुक्ति लाभ कर सकता है। इस प्रज्ञा से साधक को प्रकृति का पूर्ण ज्ञान हो जाता है जिससे वह आत्मानन्द की अनुभूति करने लगता है। यह मुक्तावस्था के समीप की स्थिति है। इस प्रज्ञा के भी बाध होने पर वह प्रकृति से अलग होकर शुद्ध चैतन्य का अनुभव करता है। यही 'कैवल्य' अथवा 'मोक्ष' है।

सूत्र—५१

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजाः समाधिः।

तस्य=उसका; **अपि**=भी; **निरोधे**=निरोध हो जाने पर; **सर्वनिरोधात्**=सबका निरोध हो जाने के कारण; **निर्बीजः**=निर्बीज; **समाधिः**=समाधि (हो जाती है)।

अनुवाद— *उसका भी निरोध हो जाने पर सबका निरोध हो जाने के कारण 'निर्बीज समाधि' हो जाती है।*

व्याख्या—इस प्रज्ञा से अन्य सब संस्कारों का, जो संसार में ले जाने वाले हैं उनका तो बाध हो जाता है किन्तु नये संस्कार जो आत्मानन्द

से सम्बन्धित होते हैं विद्यमान रहते हैं। इसलिए इनका भी निरोध वैराग्य द्वारा किया जाने पर 'निर्बीज समाधि' सिद्ध होती है। इसमें वे बीजरूप संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं। निर्बीज समाधि के प्राप्त हुए बिना कैवल्य प्राप्ति नहीं होती। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि अविद्यादि संस्कारों के नष्ट होने से दुःखों का तो अन्त हो जाता है। किन्तु विद्यादि संस्कार भी संस्कार ही हैं। इनका भी निरोध होने पर कैवल्य प्राप्ति अथवा मुक्ति होती है। इससे पूर्व नहीं। यह अंतिम स्थिति है। इसके आगे कोई गति नहीं है। यही चैतन्य आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। केवल बुरे का निरोध हो जाने पर साधक स्वर्ग का अधिकारी ही होता है। क्योंकि भोगों का बीज विद्यमान है, वासना शेष है, उसका मूल नष्ट नहीं हुआ है केवल पक्ष बदला है बुरे से अच्छा। अच्छे का भी निरोध होने पर मोक्ष होता है। यही योग दर्शन का सार है जो जीव की अन्तिम अवस्था है। जहाँ से आया था वहीं पुनः पहुँच गया। प्रकृति से सदा के लिए सम्बन्ध छूट जाता है। तथा केवल चैतन्य ही शेष रह जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा में साधक सत्य को तो उपलब्ध हो जाता है किन्तु मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार चोरों से घर की रक्षा करनी के लिए पहरेदार रखे जाते हैं किन्तु जब चोरों का भय ही दूर हो जाता है तो उन पहरेदारों को भी हटाना आवश्यक हो जाता है वरना वे भी उपद्रव का कारण बन जाते हैं। इसी प्रकार सभी बुरे संस्कारों को ऋतम्भरा प्रज्ञा जाग्रत होने पर दूर किया जा सकता है किन्तु इसके बाद इसको भी हटाने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। अच्छे और बुरे सभी संस्कारों को हटा देना ही मोक्ष है।

इस समाधिपाद की समाप्ति पतंजलि इसी अन्तिम अवस्था के साथ करते हैं जो जीव की अन्तिम स्थिति है।

॥ इति समाधि पादः ॥

सूत्र—१

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि=तप-स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—ये तीनों; **क्रियायोगः**=क्रियायोग हैं।

अनुवाद— तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति ये तीनों 'क्रिया योग' हैं।

व्याख्या—योग दर्शन के अन्तर्गत महर्षि पतंजलि ने चित्त वृत्तियों के निरोध को ही 'योग' कहा है। इस निरोध के फल-स्वरूप आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। जो जीव की अन्तिम अवस्था है जहाँ पहुँचकर उसका संसार में पुनरागमन नहीं होता। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अभ्यास, वैराग्य तथा ईश्वर प्रणिधान की आवश्यकता बतलाई है किन्तु ये सब साधन उसके लिए हैं जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, जो योग साधना में लगा हुआ है तथा जिसका पूर्व अनुभव है। सामान्य व्यक्ति जो साधना आरम्भ करना चाहते हैं। उनके लिए यह साधन पाद ही महत्वपूर्ण है जिस पर चलकर वह निर्बीज समाधि को उपलब्ध हो सकता है।

योग की उपलब्धि के लिए दो मार्ग हैं। पहला क्रिया का तथा दूसरा अक्रिया का। सांख्य में अक्रिया को ही मार्ग बताया है। इसमें

बताया गया है कि क्रिया मात्र बन्धन है। प्रत्येक कर्म अपना फल अवश्य देता है जिससे मुक्ति की संभावना नहीं है। किन्तु योग 'क्रिया' की बात कहता है क्योंकि मन स्वभावतः क्रिया में ही रुचि लेता है। अतः योग साधना का आरम्भ क्रिया से ही किया जाता है किन्तु कर्म की गति स्वर्ग से आगे नहीं है इसलिए मुक्ति के साधक को वहाँ पहुँचने पर अक्रिया में प्रवेश करना होता है। आरम्भ से ही यदि कोई साधक सीधा अक्रिया का मार्ग अपनाता है तो वह आलसी एवं निकम्मा होकर पथभ्रष्ट भी हो सकता है। इसलिए योग का मार्ग निरापद है।

महर्षि पतंजलि इस साधन पाद में सर्व प्रथम 'क्रिया योग' को बतलाते हैं। जो मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। ये हैं—तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर शरणागति। इसमें 'ईश्वर शरणागति' अकेला ऐसा साधन है जिसमें साधक पूर्ण रूपेण अपने शरीर, मन, बुद्धि एवं अहंकार सहित ईश्वर को समर्पित कर देता है। वह अपना निजत्व समाप्त कर ईश्वर की मर्जी के अनुकूल कार्य करता है। वह स्वयं को बाँस की पोंगरी मान लेता है जिसमें सारे स्वर उसी ईश्वर के होते हैं। वह अपने को खाली कर देता है जिससे ईश्वर उसका हाथ थाम लेता है। वह समस्त कर्म ईश्वर के समझ कर उसी को आज्ञा से करता है तथा उनका फल भी उसको अर्पित कर देता है। ऐसा साधक कर्म संचय नहीं करता। उसकी चित्त वृत्तियाँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। जिससे वह मोक्ष का अधिकारी होता है। यदि वह पूर्ण रूपेण समर्पित नहीं हो सकता तो उस ईश्वर के गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन करना, उसी से प्रेम करना आदि क्रियाओं से भी भक्ति भावना
सकता है। यहाँ ईश्वर शरणागति का यही अर्थ है। पूर्ण
प्रारम्भिक अवस्था में सम्भव नहीं है।

दूसरा साधन है 'तप' तप का अर्थ शरीर को कष्ट
है। जो शरीर को पापी समझकर उसे निरन्तर सताते रहते

सूत्र—१

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि=तप-स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—ये तीनों; **क्रियायोगः**=क्रियायोग हैं।

अनुवाद— तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति ये तीनों 'क्रिया योग' हैं।

व्याख्या—योग दर्शन के अन्तर्गत महर्षि पतंजलि ने चित्त वृत्तियों के निरोध को ही 'योग' कहा है। इस निरोध के फल-स्वरूप आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। जो जीव की अन्तिम अवस्था है जहाँ पहुँचकर उसका संसार में पुनरागमन नहीं होता। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अभ्यास, वैराग्य तथा ईश्वर प्रणिधान की आवश्यकता बतलाई है किन्तु ये सब साधन उसके लिए हैं जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, जो योग साधना में लगा हुआ है तथा जिसका पूर्व अनुभव है। सामान्य व्यक्ति जो साधना आरम्भ करना चाहते हैं। उनके लिए यह साधन पाद ही महत्वपूर्ण है जिस पर चलकर वह निर्बीज समाधि को उपलब्ध हो सकता है।

योग की उपलब्धि के लिए दो मार्ग हैं। पहला क्रिया का तथा दूसरा अक्रिया का। सांख्य में अक्रिया को ही मार्ग बताया है। इसमें

बताया गया है कि क्रिया मात्र बन्धन है। प्रत्येक कर्म अपना फल अवश्य देता है जिससे मुक्ति की संभावना नहीं है। किन्तु योग 'क्रिया' की बात कहता है क्योंकि मन स्वभावतः क्रिया में ही रुचि लेता है। अतः योग साधना का आरम्भ क्रिया से ही किया जाता है किन्तु कर्म की गति स्वर्ग से आगे नहीं है इसलिए मुक्ति के साधक को वहाँ पहुँचने पर अक्रिया में प्रवेश करना होता है। आरम्भ से ही यदि कोई साधक सीधा अक्रिया का मार्ग अपनाता है तो वह आलसी एवं निकम्मा होकर पथभ्रष्ट भी हो सकता है। इसलिए योग का मार्ग निरापद है।

महर्षि पतंजलि इस साधन पाद में सर्व प्रथम 'क्रिया योग' को बतलाते हैं। जो मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। ये हैं—तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर शरणागति। इसमें 'ईश्वर शरणागति' अकेला ऐसा साधन है जिसमें साधक पूर्ण रूपेण अपने शरीर, मन, बुद्धि एवं अहंकार सहित ईश्वर को समर्पित कर देता है। वह अपना निजत्व समाप्त कर ईश्वर की मर्जी के अनुकूल कार्य करता है। वह स्वयं को बाँस की पोंगरी मान लेता है जिसमें सारे स्वर उसी ईश्वर के होते हैं। वह अपने को खाली कर देता है जिससे ईश्वर उसका हाथ थाम लेता है। वह समस्त कर्म ईश्वर के समझ कर उसी को आज्ञा से करता है तथा उनका फल भी उसको अर्पित कर देता है। ऐसा साधक कर्म संचय नहीं करता। उसकी चित्त वृत्तियाँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। जिससे वह मोक्ष का अधिकारी होता है। यदि वह पूर्ण रूपेण समर्पित नहीं हो सकता तो उस ईश्वर के गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन करना, उसी से प्रेम करना आदि क्रियाओं से भी भक्ति भावना जाग्रत कर सकता है। यहाँ ईश्वर शरणागति का यही अर्थ है। पूर्ण समर्पण इस प्रारम्भिक अवस्था में सम्भव नहीं हैं।

दूसरा साधन है 'तप' तप का अर्थ शरीर को कष्ट मात्र देना नहीं है। जो शरीर को पापी समझकर उसे निरन्तर सताते रहते हैं वे हिंसक

चित्त वाले हैं। गहरे में वे हिंसा भावना से पीड़ित है। शरीर को भूखा-प्यासा रखना, काँटों पर सोना, शरीर के कोड़े लगाना, पंचाग्नि तप करना, सर्दी, गर्मी सहन करना, नग्न रहना आदि शरीर को सताने वाली अनेक क्रियाएँ अज्ञानी जन करते रहते हैं किन्तु इन्हें तप नहीं कह सकते इनका न तो आत्मज्ञान से कोई सम्बन्ध है न मोक्ष प्राप्ति से। ये केवल अहंकार को तुष्ट करते हैं। तप का अर्थ है साधन काल में जो-जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट प्राप्त हों उन्हें सहर्ष ईश्वरेच्छा समझकर स्वीकार कर लेना तथा प्रतिक्रिया न करना। साधन काल में व्रत, उपवास, स्वधर्म पालन, स्वकर्त्तव्य पालन, नियम, संयम आदि जितने भी शास्त्रोक्त कर्तव्य कर्म हैं उन्हें निष्ठा एवं ईमानदारी से फलेच्छा का त्याग करते हुए करना तथा इनमें जो भी कष्ट हो उसे सहन करना ही तप है। ऐसे तप से अन्तःकरण शुद्ध होता है।

तीसरा साधन 'स्वाध्याय' है। स्वाध्याय में उन ग्रन्थों का अध्ययन भी सम्मिलित है जिनसे साधक की योग में रुचि बढ़ती है, अपने कर्त्तव्य का बोध होता है तथा चित्त में वैसी ही भावना का उदय होता है। यह स्वाध्याय साधक के लिए मार्ग दर्शक होता है। इससे भी चित्त निर्मल होता है किन्तु इससे भी ऊपर इसका अर्थ है 'स्व' का अध्ययन। ध्यान की स्थिति में अपने स्वरूप का ध्यान करना, आत्मा, ओंकार, ईश्वर का ध्यान करना तथा उसी के मन्त्र का जाप करना, आत्मा एवं परमात्मा में अभेद सम्बन्ध बनाने की क्रिया ही 'स्वाध्याय' है। इनसे स्वयं के दोष दूर होकर चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है। इन तीनों को 'क्रिया योग' कहते हैं। साधक इस क्रिया योग से साधना आरम्भ कर सकता है। यह क्रिया योग इन्द्रियों को वश में करने वाला, मन को भटकने से रोकने वाला तथा अहंकार को क्षीण करने वाला है इसलिए यह योग सिद्धि में सहायक है। चंचल मन वालों के लिए यह प्रारम्भ है जिससे चल कर वह समाधि लाभ कर सकता है। पूर्व प्रकरण में जो

योग के साधन बताये गये हैं वे मन ही पर निर्भर हैं। किन्तु जो इन विधियों से मन को नियंत्रित नहीं कर सकते उनके लिए यह 'क्रिया योग' बतलाया गया है। इन क्रिया योग से भी सभी क्लेश कमजोर हो जाते हैं और समाधि की योग्यता हो जाती है। समाधि अवस्था में ही सभी दुःखों का नाश हो जाता है तथा सुख की प्राप्ति होती है। ये तीनों ही साधन (तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान) 'क्रिया योग' कहलाते हैं। 'साधनापाद' में इन्हीं का वर्णन है।

सूत्र—२

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।

समाधिभावनार्थः=(यह क्रियायोग) समाधि की सिद्धि करनेवाला; **च**=और; **क्लेशतनूकरणार्थः**=अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करनेवाला है।

अनुवाद— यह क्रिया योग समाधि की सिद्धि करने वाला और अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करने वाला है।

व्याख्या—इस सूत्र में 'क्रिया योग' का फल बतलाया गया है कि इस साधन से अविद्यादि जितने क्लेश हैं वे क्षीण होते हैं तथा साधक को समाधि की सिद्धि होती है। ये क्लेश ही मनुष्य को संसार में भटकाने वाले हैं जो पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण हर जन्म में अपना प्रभाव दिखाते हैं। आत्म-स्वरूप के ज्ञान के विना इनका क्षय नहीं होता किन्तु इन्हें क्रिया योग से क्षीण करके आगे साधना के मार्ग में बढ़ा जा सकता है किन्तु इनका पूर्ण क्षय निर्वीज समाधि में ही होता है। इन साधनों से समाधि की योग्यता आ जाती है क्योंकि क्लेशों के क्षीण होने से मन स्थिर हो जाता है। जब तक ये पाँचों क्लेश तीव्र हैं तब तक समाधि की भावना नहीं हो सकती तथा समाधि की भावना विना ये क्लेश ढीले नहीं पड़ सकते। (आगे सूत्र ३ में इन क्लेशों को बताया गया है।)

सूत्र—३

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (ये पाँचों); **क्लेशाः**=क्लेश हैं।

अनुवाद— *अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँचों 'क्लेश' हैं।*

व्याख्या—ये 'क्लेश' पाँच हैं जिनको क्षीण किये जाने से ही मन में स्थिरता आती है। ये ही क्लेश जीव मात्र के संसार चक्र में बार-बार आने का कारण बनते हैं तथा महा दुःखदायक होते हैं। संसार में अन्य भी अनेक प्रकार के दुःख हैं किन्तु उन सबका मूल ये पाँच ही हैं इसलिए इन्हें क्रिया योग द्वारा क्षीण किये जाने से मन स्थिर होता है। ये पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये क्लेश अहंकार की ही उपज है। यह 'अविद्या' जो संसार की ओर प्रवृत्त करती है उसके मूल में अहंकार ही है। अस्मिता ('मैं' हूँ) का भान भी अहंकार के कारण है। राग-द्वेष भी अहंकार की ही उपज है तथा अभिनिवेश (मरण भय) भी अहंकार ही है क्योंकि शरीर की मृत्यु कोई मृत्यु नहीं है वह चोला है जिसे फटने पर बदला जाता है किन्तु मरता अहंकार है। जीने की इच्छा भी अहंकार के कारण है इसलिये मृत्यु का भय इस अहंकार पर चोट करता है कि अब सब कुछ छीना जा रहा है। इसलिए ये सभी क्लेश अहंकार के ही कारण हैं। अहंकार ने अविद्या को जन्म दिया तथा अविद्या के रहते ये अन्य चारों क्लेश जीवित रहेंगे ही। वह सूत्र ४ में बताया गया है। जिस प्रकार ज्वर आने पर शरीर के ताप का बढ़ना, सिरदर्द, बेचैनी, घबराहट, भूख न लगना, अरुचि, शरीर में दर्द आदि हो जाते हैं तथा ज्वर के उतरने पर सब अपने आप ठीक हो जाता है। उसी प्रकार इन पाँचों क्लेशों के मिटने से अन्य सभी दुःख मिट जाते हैं। प्रत्येक दुःख को अलग-अलग

मिटाना नहीं पड़ता। अन्य सभी दु:ख इन पाँचों की ही उपज हैं।

सूत्र—४

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।

अविद्या=अविद्या है; **क्षेत्रम्**=कारण; **उत्तरेषाम्**=जिनका वर्णन (तीसरे सूत्र में) अविद्या के बाद किया गया है, उन (अस्मितादि चारों क्लेशों) का; **प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्**=जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—(इस प्रकार चार) अवस्थाओं में (वर्तमान) रहनेवाले हैं।

अनुवाद— *प्रसुप्त, शिथिल, दबे हुए और कार्य प्रवृत्त अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश क्लेशों की उत्पत्ति भूमि 'अविद्या' है।*

व्याख्या—सूत्र ३ में जो पाँच क्लेश बतायें हैं। उनमें अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश इन चारों क्लेशों का कारण 'अविद्या' है। इसलिए जब तक अविद्या जीवित है इन क्लेशों को मिटाने का कोई उपाय नहीं है किन्तु अविद्या के नाश से इन सबका नाश हो जाता है (अविद्या का स्वरूप सूत्र ५ में बताया गया है)। ये चारों क्लेश अविद्या के रहते सदा जीवित रहेंगे ही चाहे वे प्रसुप्त, तनु (शिथिल), विच्छिन्न (दबे हुए) तथा उदार (कार्य प्रवृत्त) किसी भी अवस्था में रहें। चित्त में उपस्थित रहते हुए भी जिस समय जो क्लेश कार्य नहीं करता उसे 'प्रसुप्त' कहते हैं। प्रलय काल तथा सुषप्ति में ये चारों प्रसुप्त करते हैं। दूसरी 'तनु' अवस्था है। योग साधना द्वारा जब इनके प्रभाव को क्षीण कर दिया जाता है जिससे ये अपना प्रभाव कम कर देते हैं। ये हीन शक्ति वाले क्लेश 'तनु' कहलाते हैं। तीसरी अवस्था 'विच्छिन्न' है। जब कोई 'क्लेश' अधिक सक्रिय हो जाता है तो दूसरा अपने आप दब जाता है एवं द्वेष बढ़ जाने पर राग दब जाता है। चौथी अवस्था 'उदार' है। इसमें क्लेश अपना कार्य पूर्णतया कर रहा होता है, वह पूर्ण सक्रिय

होता है। अविद्या के रहते ये चारों क्लेश इन चार अवस्थाओं में से किसी में भी हों जीवित अवश्य रहते हैं। इसलिए इनके नाश का उपाय अविद्या के नाश से ही हो सकता है। बालक में ये क्लेश 'प्रसुप्त' रहते हैं। साधक में 'तनु' (सूक्ष्म) हो जाते हैं। राग के समय द्वेष 'विच्छिन्न' हो जाता है तथा द्वेष के समय राग 'विच्छिन्न' हो जाता है। जब एक के तीव्र होने पर भी दूसरा न दबे उसे 'उदार' कहते हैं।

(आगे के सूत्रों में इन पाँचों क्लेशों की व्याख्या की गई है।)

सूत्र—५

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म्ख्यातिरविद्या।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु=अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में; **नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः**=नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव की अनुभूति; **अविद्या**='अविद्या' है।

अनुवाद— *अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में नित्य पवित्र, सुख और आत्मभाव की प्रतीति 'अविद्या' है।*

व्याख्या—इस सूत्र में 'अविद्या' की व्याख्या की गई है कि इस सृष्टि में जो नित्य है, शाश्वत है, पवित्र है, सुख देने वाली है, आनन्द देने वाली है, सदा शांति प्रदान करने वाली है ऐसी आत्मा जो निज का स्वभाव है उसका ज्ञान ही 'विद्या' है। इस के विपरीत यह संसार, शरीर, मन, इन्द्रियाँ, आपसी सम्बन्ध, नाते, रिश्ते, धन, दौलत, मान, सम्मान आदि अनित्य है, सदा रहने वाले नहीं हैं। ये सभी इसी जीवन से सम्बन्धित हैं। मृत्यु के बाद ये सभी छूट जायेंगे, उनकी स्मृति भी नहीं रहेगी जिस प्रकार स्वप्न टूटने पर मनुष्य का स्वप्न का सारा विलास छूट जाता है। किन्तु मनुष्य इन सांसारिक अनित्य पदार्थों को ही नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख देने वाले होते हुए भी उनमें क्षणिक सुख का आभास होने से इनमें सुख तथा इन सम्पूर्ण अनात्म प्रकृति में आत्मा की

प्रतीति करना ही 'अविद्या' है। यद्यपि विद्या और अविद्या दोनों ही माया हैं, प्रकृति हैं किन्तु विद्या आत्मज्ञान की ओर ले जाने वाली है जिससे परम सुख व शांति मिलती है जबकि अविद्या संसार में भटकाने वाली है जिससे दुःख, सन्ताप, आदि बढ़ते हैं तथा जन्म मृत्यु का चक्र बना रहता है। इसलिए यह क्लेश माना गया है इस अविद्या का मूल कारण अहंकार है। यह अविद्या ही मूल क्लेश है जो अन्य क्लेशों का कारण है।

सूत्र—६

दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता।

दृग्दर्शनशक्त्योः=दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनों का; **एकात्मता इव**=एकरूप-सा हो जाना; **अस्मिता**='अस्मिता' है।

अनुवाद— *दृक् शक्ति अर्थात आत्मा और दर्शन शक्ति प्रकृति का एक सा भान होना 'अस्मिता' है।*

व्याख्या—आत्मा (पुरुष) दृष्टा है। देखने की शक्ति वही है तथा प्रकृति दर्शन शक्ति है जिसे यह आत्मा देखती है। प्रकृति जड़ है, प्रकृति जन्य है इसलिए वह स्वयं दृष्टा नहीं हो सकती। वह माध्यम मात्र है। यह सम्पूर्ण प्रकृति उस पुरुष का माध्यम है, वाहन है जिससे वह पुरुष तत्व सृष्टि का विस्तार करता है। बिना चेतना के संयोग के जड़ प्रकृति स्वयं अपना विस्तार नहीं कर सकती तथा बिना प्रकृति के वह चेतना क्रियाहीन है। इन दोनों का संयोग ही सृष्टि विस्तार का कारण है। दोनों भिन्न हैं, दोनों के गुण-धर्म सर्वथा भिन्न हैं। किन्तु अज्ञानवश इन दोनों का एक सा भान हो रहा है कि यह प्रकृति की दृष्टा है तथा यह सृष्टि केवल प्रकृति का ही विस्तार है। सभी भौतिकवादियों की ऐसी ही धारणा है कि चेतना प्रकृति से भिन्न नहीं है। यही एकता की भ्रान्ति 'अस्मिता' कहलाती है। अस्मिता अर्थात् "मैं" पन। आत्मा के अज्ञान से मनुष्य अपने इस प्रकृति जन्य स्वरूप (शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ,

अहंकार आदि) को ही 'मैं' कहता है जबकि ज्ञानी तत्व बोध के द्वारा जान लेता है कि यह प्रकृति मनुष्य का वास्तविक स्वरूप नहीं है। उसका वास्तविक स्वरूप वह चैतन्य तत्व (आत्मा) है जो इससे भिन्न है। इस ज्ञान के बाद उसकी इस अस्मिता का भ्रम दूर होकर वह अपने स्वरूप (आत्मा) में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस अस्मिता का कारण अहंकार है जो बुद्धि से उत्पन्न होता है। यही मूल अज्ञान है। जिसका नाश होने पर ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है।

सूत्र—७

सुखानुशयी रागः।

सुखानुशयी=सुख की प्रतीति के पीछे रहनेवाला क्लेश; **रागः**='राग' है।

अनुवाद— *सुख भोगने की इच्छा के पश्चात् (पुनः) सुख भोगने की इच्छा 'राग' है।*

व्याख्या—इस सूत्र में 'राग' की व्याख्या की गई है कि भोगे हुए सुख की प्रतीति मन में स्मृति रूप से रहती है। मन वासनाग्रस्त होने से वह उस सुखद अनुभूति के कारण उस भोग को बार-बार भोगना चाहता है। उसकी यह बार-बार भोगने की इच्छा ही 'राग' है। अनभोगे विषयों को भी भोगने की इच्छा का होना पूर्व संस्कार ही है। यह राग भी उसी अहंकार के कारण है जिससे मनुष्य अपने को शरीर तथा मन ही समझता है एवं उसी की तृप्ति की इच्छा करता है। स्वयं को आत्मा समझने पर इन विषय भोगों से रुचि हट जाती है क्योंकि उसे वे अनित्य ज्ञात होने लगते हैं। ऐसा ज्ञानी फिर नित्य का भोग भोगता है। रामकृष्ण ने एक बार कहा कि मैं महान् भोगी हूँ क्योंकि इन अनित्य सुख का भोग छोड़कर उस नित्य, शाश्वत एवं परमानन्द का भोग भोग रहा हूँ। इस क्षणिक सुख की प्रतीति के पीछे रहने वाली आसक्ति को ही 'राग' कहते हैं। यह भी

अविद्या ही है। इसी राग के कारण मन विषयों में सुख समझकर भटकता रहता है किन्तु इनसे सुख मिलता नहीं। अन्त में क्लेश ही प्राप्त होता है। इसलिए इस राग को भी 'क्लेश' कहा गया है। इस राग तथा विराग दोनों से विरक्त पुरुष ही 'वीतरागी' है। वही परम सुख को प्राप्त होता है।

सूत्र—८

दुःखानुशयी द्वेषः।

दुःखानुशयी=दुःख की प्रतीति के पीछे रहनेवाला क्लेश; **द्वेषः**='द्वेष' है।

अनुवाद— दुःख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश 'द्वेष' है।

व्याख्या—राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। दोनों का ही कारण वासना है जब विषयों की पूर्ति से क्षणिक आनन्द की अनुभूति होती है तो उसे बार-बार भोगने की इच्छा होती है। यही आसक्ति राग है किन्तु जब इनके भोगने में बाधा उपस्थित होती है तो दुःख होता है। जब किसी कार्य के करने से दुःख होता है तो उसकी प्रतीति से द्वेष उत्पन्न होता है। यह भी 'क्लेश' है। राग और द्वेष दोनों का कारण आसक्ति ही है। जब तक यह आसक्ति है तब तक ये दोनों रहेंगे। आसक्ति हटने पर दोनों नहीं रहेंगे। एक को मिटा कर दूसरे को नहीं बचाया जा सकता है। इस आसक्ति का भी कारण अहंकार ही है जिसके रहते दोनों रहेंगे ही।

सूत्र—९

स्वरस वाही विदुषोऽपि तथारूढ़ोऽभिनिवेशः।

स्वरसवाही=जो परम्परागत स्वभाव से चला आ रहा है एवं; **विदुषः अपि तथारूढः**=जो मूढ़ों की भाँति विवेकशील पुरुषों में

भी विद्यमान देखा जाता है, वह (मरणभयरूप क्लेश), **अभिनिवेशः**= 'अभिनिवेश' है।

अनुवाद— जो परम्परागत स्वभाव से चला आ रहा है एवं जो मूढ़ों की भाँति विवेक शील पुरुषों में भी विद्यमान है वह (मरण भय रूप क्लेश) 'अभिनिवेश' है।

व्याख्या—सृष्टि का नियम है कि जहाँ जन्म है, वहाँ मृत्यु है। ये भी एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। या तो दोनों रहेंगे या दोनों मिटेंगे। किन्तु मृत्यु को निश्चित जानकर भी सभी भयभीत होते हैं। जीने की सबकी इच्छा रहती है। मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए कीट-पतंग से लेकर विवेकशील पुरुषों तक में यह भय व्याप्त है। मनुष्य में बचपन से ही भय विद्यमान रहता है। उसे हर वस्तु आग, पानी, जानवर आदि अनेक कारणों से भय लगता है। यह भय मृत्यु के ही कारण है क्योंकि यह परंपरागत स्वभाव से चला आ रहा है। ज्ञानी, अज्ञानी, मूढ़, विवेकी सभी मरे हैं अतः गहराई में इसका भय व्याप्त है। यह मृत्यु भय ही 'अभिनिवेश' कहलाता है जो 'क्लेश' है। जो ज्ञानी आत्मा के स्वरूप को पहचान लेता है वह इस मरण भय से मुक्त हो जाता है क्योंकि मरता केवल अहंकार है। आत्मा कभी मरती नहीं। फिर भय किसका? किन्तु जो अज्ञानी आत्मा को नहीं जान पाते तथा अहंकार वश अपना अलग अस्तित्व मानते हैं वे ही मृत्यु से भयभीत होते हैं। अर्जुन की भी यही स्थिति थी। वह स्वयं अहंकार में जी रहा था इसलिए मरने मारने में उसको भय और पाप दिखाई दे रहा था। भगवान् कृष्ण ने उसे आत्म बोध कराकर उसके इस मृत्यु भय को दूर किया।

सूत्र—१०

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।

ते=वे; **प्रतिप्रसवहेयाः**=चित्त को अपने कारण में विलीन करने
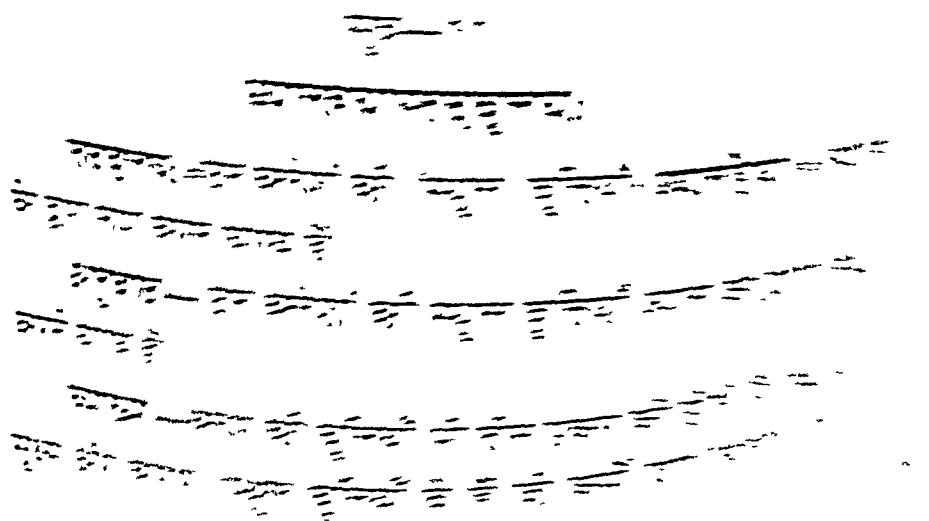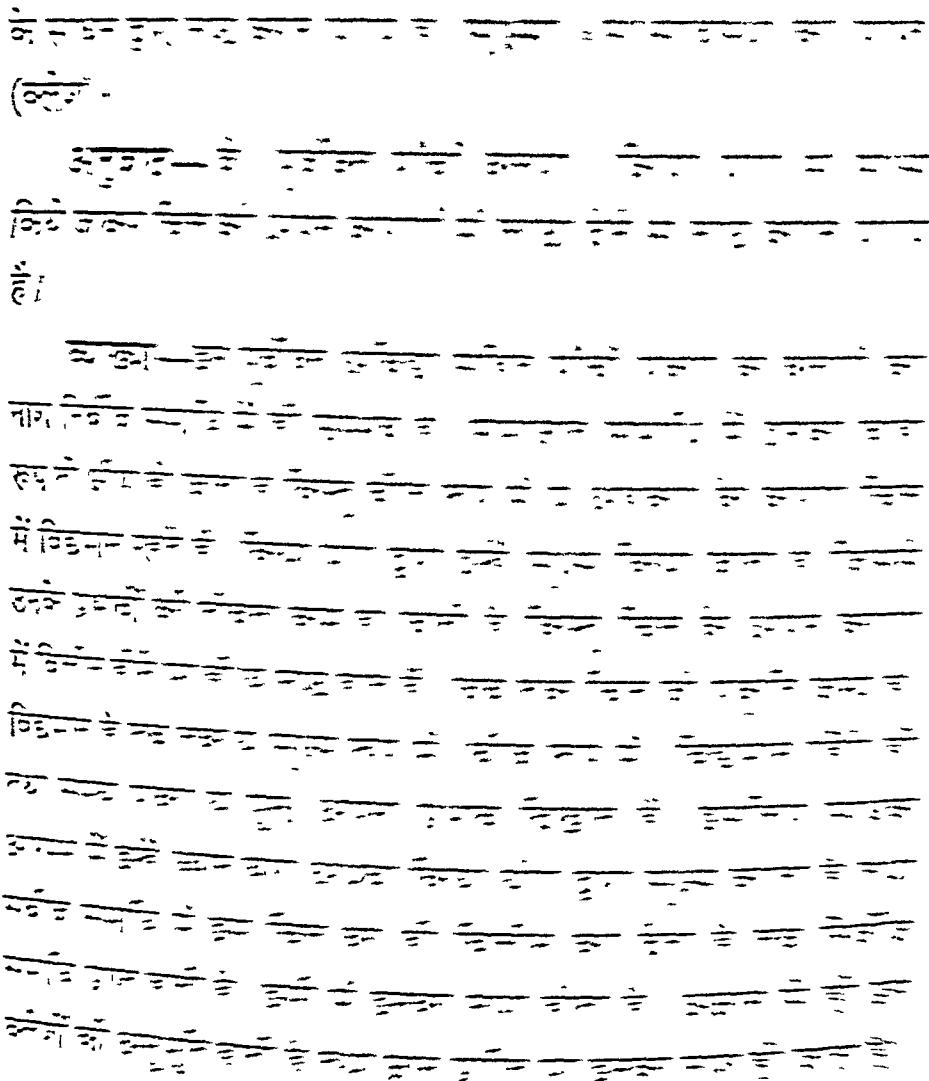
आचरण में प्रयुक्त होती है जैसे किसी की हिंसा करना, राग, द्वेष रखना, झगड़ा, मन मुटाव रखना, गर्व करना, दूसरों को दु:ख देना, पीड़ा पहुँचाना, सदा भयभीत रहना आदि। इसलिए पतंजलि कहते हैं कि यह जो इनका स्थूल बाह्य स्वरूप है उसे सबसे पहले क्रिया योग द्वारा सूक्ष्म करना चाहिए। मन में ऐसे विचार आने पर भी इन्हें क्रियान्वित नहीं करने से ये निर्बल हो जाते हैं। इसलिए सदाचार का आचरण करना इन को निर्बल करना है। इसके बाद इनका विचारों में बार-बार आना जारी रहता है। जो इनका सूक्ष्म रूप है यह सम्प्रज्ञात समाधि में नष्ट होता है जहाँ विचार ही बन्द हो जाते हैं। इसके बाद बीज रूप में ये चित्त में विद्यमान रहती हैं जो निर्बीज समाधि में चित्त के लय के साथ नष्ट होती हैं इस क्रमिक साधना से ही योग की उपलब्धि होती है। दसवें सूत्र में बताये गये क्रिया-योग से ये स्थूल वृत्तियाँ सूक्ष्म होती हैं तथा ध्यान से ये नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार इनको नष्ट करना चाहिए। अविद्या के संस्कार को ही नष्ट कर देने से ये वृत्तियाँ फिर नहीं उभरतीं। इन्हें क्रिया योग से कमजोर करके, ध्यान द्वारा सूक्ष्म किया जाता है। फिर समाधि द्वारा इन्हें निर्बीज किया जाता है तभी ये नष्ट होती हैं। वे भुने हुए बीज के समान हो जाती हैं जिनसे फिर अंकुर नहीं निकलता। क्रिया योग के बिना समाधि की योग्यता नहीं आती इसलिए क्रिया योग से ही आरम्भ कर निर्बीज समाधि में इन्हें नष्ट करना चाहिए।

सूत्र—१२

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

क्लेशमूलः=क्लेशमूलक; **कर्माशयः**=कर्मसंस्कारों का समुदाय; **दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः**=दृष्ट (वर्तमान) और अदृष्ट (भविष्य में होनेवाले) दोनों प्रकार के ही जन्मों में भोगा जानेवाला है।

अनुवाद— *वर्तमान और भावी जन्मों में भोगने योग्य कर्मों की*

वासनाओं (कर्म संस्कारों का समुदाय) का मूल 'क्लेश' है।

व्याख्या—मनुष्य जो भी कर्म करता है उससे संस्कार निर्मित होते हैं। इस प्रकार अनेक जन्मों में किये गए कर्मो से उन संस्कारों का समुदाय बन जाता है। प्रत्येक कर्म का फल अवश्य होता है। कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है जिसकी प्रतिक्रिया न हो। यही उसका फल है जो कर्म वाद के सिद्धांत को सिद्ध करता है। इस कर्म समुदाय का क्षय भोगे बिना नहीं होता। जितने कर्म संचित हैं उनमें से थोड़े से ही मनुष्य एक जन्म में भोगता है शेष अगले जन्मों में भोगने के लिए सुरक्षित रहते हैं किन्तु उनका विनाश कभी नहीं होता। इस जन्म में जो फल भोग रहे हैं वे आवश्यक नहीं कि इससे पहले के जन्म के ही कर्म हैं। इससे पहले के कई जन्मों पूर्व के भी हो सकते हैं। फिर इस जन्म में जो भी अच्छे-बुरे कर्म किये गये हैं वे भी संस्कार बनते हैं जिन्हें अगले जन्मों में भोगना ही पड़ेगा। बिना भोगे इनसे छुटकारा नहीं हो सकता। इस प्रकार इस कर्म जाल व उनके भोगों का कभी अन्त हो ही नहीं सकता एवं बिना इनका अन्त हुए मुक्ति की संभावना ही नहीं रहती। किन्तु इन कर्म संस्कारों के समुदाय का मूल ये अविद्यादि पाँचों क्लेश हैं। यदि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश आदि क्लेशों के मूल में जो अविद्या है तथा अहंकार जिसका कारण है न रहे तो ये कर्म अपना फल नहीं देते। इन क्लेशों से रहित कर्म करने वाला नये कर्म संस्कार निर्मित नहीं करता किन्तु इन क्लेशों के रहते जो भी कर्म किये जायेंगे उनका फल इस जन्म में तथा अगले जन्मों में अवश्य भोगना पड़ता है। इन अविद्यादि क्लेशों के रहने से ही वासनाएँ पैदा होती हैं। यदि इसे जान लिया तो वासनाएँ समाप्त हो जाती है अन्यथा इनके बीज रूप में रहने पर पुनः इनका विशाल वृक्ष बन जाता है। इसलिए इस कर्म संचय को रोकने का एकमात्र उपाय अविद्या का नाश ही है। साधक को इसी अविद्या के नाश का उपाय करना चाहिए जो इन क्लेशों का मूल है।

सूत्र—१३

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

मूले सति=मूल के विद्यमान रहने तक; **तद्विपाकः**=उस (कर्माशय) का परिणाम; **जात्यायुर्भोगाः**=पुनर्जन्म, आयु और भोग होता रहता है।

अनुवाद— मूल के विद्यमान रहने तक उसके परिणाम स्वरूप जाति (पुनर्जन्म), आयु और भोग प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—जब तक इन क्लेशों का मूल अविद्या विद्यमान है तब तक कर्म संचय होता ही रहेगा तथा इस कर्म संचय का परिणाम अवश्य होगा। इसी से मनुष्य का पुनर्जन्म होता है, उसको एक निश्चित आयु प्राप्त होती है तथा उनके फलों को भोगना पड़ता है। यह क्रम अनेक जन्मों तक निरन्तर चलता रहता है। सभी संचित कर्मो को यदि कोई एक ही जन्म में भोग ले तथा नये कर्म संचित न करे तो वह मुक्त हो सकता है किन्तु ऐसा होता नहीं। पूर्व संचित कर्मो में थोड़े से ही एक जन्म में भोगने के लिए होते हैं। शेष अगले जन्मों के लिए सुरक्षित रहते हैं। अविद्या के रहने से नये कर्म संचित होते रहते हैं इस लिए कर्मो द्वारा कर्मो का क्षय कभी सम्भव नहीं है। ये अविद्या के नाश से ही सम्भव है जो बिना आत्मज्ञान प्राप्त किये नहीं हो सकता। अतएव साधक को आत्मज्ञान प्राप्त करके चित्त के लय से इस अविद्या का नाश करना चाहिए। इसके अलावा और कोई उपाय नहीं है। कर्मों के परिणाम स्वरूप ही जीव विभिन्न जातियों (मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि) में पुनः जन्म लेता है तथा वहाँ निश्चित आयु तक रहकर उन्हें भोगता है। इसी को 'प्रारब्ध' कहते हैं। इन तीनों (जन्म, आयु, भोग) पर जीव का कोई अधिकार नहीं है किन्तु कर्म पर मनुष्य का पूर्ण अधिकार है। गीता में यही कहा है—"तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में

कभी नहीं" (गीता २/४७) यह जन्म, आयु और भोग उसके फल हैं।

सूत्र—१४

ते ह्लादपरिताप फलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।

ते=वे (जन्म, आयु और भोग); **ह्लादपरितापफलाः**=हर्ष और शोकरूप फल को देनेवाले होते हैं; **पुण्यापुण्यहेतुत्वात्**=क्योंकि उनके पुण्यकर्म और पापकर्म—दोनों ही कारण हैं।

अनुवाद— वे (जन्म, आयु और भोग) हर्ष और शोक रूप फल को देने वाले होते हैं क्योंकि उनके पुण्य कर्म और पाप कर्म दोनों ही कारण हैं।

व्याख्या—मनुष्य जीवन में कर्म अनिवार्य है। ये कर्म पाप तथा पुण्य मिश्रित होते हैं जिनके परिणाम स्वरूप कर्म संस्कार बनते हैं। इन्हीं कर्म संस्कारों से वासनाएँ जाग्रत होती हैं जिनकी पूर्ति हेतु पुनः मनुष्य-जन्म मिलता है। यदि वासनाएँ न हों तो शरीर धारण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। घड़े का निर्माण ही तब किया जाता है जब उसमें कुछ भरने को है अन्यथा आवश्यकता ही नहीं है। भोग की वासनायें होने से ही शरीर की आवश्यकता होती है क्योंकि शरीर एवं इन्द्रियों से ही भोग संभव है। जीवन में पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं। जिनसे दोनों प्रकार के संस्कार बनते हैं तथा दोनों को ही भोगना पड़ता है। इनको भोगने के लिए ही मनुष्य को नया जन्म आयु तथा भोग प्राप्त होते हैं। यदि नया जन्म पुण्य कर्मो का परिणाम होता है तो मनुष्य सुखी, शान्त, दूसरों की सेवा करने वाला, धर्म में प्रीति रखने वाला तथा आनन्द में रहता है। इसके विपरीत पाप कर्मो का परिणाम होने पर वह दुःखी एवं अशान्त रहता है। इसी प्रकार आयु का जितना भाग पुण्य कर्म का परिणाम होता है वह सुख, आनन्द एवं उल्लास मे व्यतीत होता है तथा जितना भाग पाप कर्म का परिणाम होता है वह दुःख पूर्ण तथा अशान्त

सूत्र—१३

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

मूले सति=मूल के विद्यमान रहने तक; **तद्विपाकः**=उस (कर्माशय) का परिणाम; **जात्यायुर्भोगाः**=पुनर्जन्म, आयु और भोग होता रहता है।

अनुवाद— मूल के विद्यमान रहने तक उसके परिणाम स्वरूप जाति (पुनर्जन्म), आयु और भोग प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—जब तक इन क्लेशों का मूल अविद्या विद्यमान है तब तक कर्म संचय होता ही रहेगा तथा इस कर्म संचय का परिणाम अवश्य होगा। इसी से मनुष्य का पुनर्जन्म होता है, उसको एक निश्चित आयु प्राप्त होती है तथा उनके फलों को भोगना पड़ता है। यह क्रम अनेक जन्मों तक निरन्तर चलता रहता है। सभी संचित कर्मो को यदि कोई एक ही जन्म में भोग ले तथा नये कर्म संचित न करे तो वह मुक्त हो सकता है किन्तु ऐसा होता नहीं। पूर्व संचित कर्मो में थोड़े से ही एक जन्म में भोगने के लिए होते हैं। शेष अगले जन्मों के लिए सुरक्षित रहते हैं। अविद्या के रहने से नये कर्म संचित होते रहते हैं इस लिए कर्मो द्वारा कर्मो का क्षय कभी सम्भव नहीं है। ये अविद्या के नाश से ही सम्भव है जो बिना आत्मज्ञान प्राप्त किये नहीं हो सकता। अतएव साधक को आत्मज्ञान प्राप्त करके चित्त के लय से इस अविद्या का नाश करना चाहिए। इसके अलावा और कोई उपाय नहीं है। कर्मों के परिणाम स्वरूप ही जीव विभिन्न जातियों (मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि) में पुनः जन्म लेता है तथा वहाँ निश्चित आयु तक रहकर उन्हें भोगता है। इसी को 'प्रारब्ध' कहते हैं। इन तीनों (जन्म, आयु, भोग) पर जीव का कोई अधिकार नहीं है किन्तु कर्म पर मनुष्य का पूर्ण अधिकार है। गीता में यही कहा है—"तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में

कभी नहीं" (गीता २/४७) यह जन्म, आयु और भोग उसके फल हैं।

सूत्र—१४

ते ह्लादपरिताप फलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।

ते=वे (जन्म, आयु और भोग); **ह्लादपरितापफलाः**=हर्ष और शोकरूप फल को देनेवाले होते हैं; **पुण्यापुण्यहेतुत्वात्**=क्योंकि उनके पुण्यकर्म और पापकर्म—दोनों ही कारण हैं।

अनुवाद— वे (जन्म, आयु और भोग) हर्ष और शोक रूप फल को देने वाले होते हैं क्योंकि उनके पुण्य कर्म और पाप कर्म दोनों ही कारण हैं।

व्याख्या—मनुष्य जीवन में कर्म अनिवार्य है। ये कर्म पाप तथा पुण्य मिश्रित होते हैं जिनके परिणाम स्वरूप कर्म संस्कार बनते हैं। इन्हीं कर्म संस्कारों से वासनाएँ जाग्रत होती हैं जिनकी पूर्ति हेतु पुनः मनुष्य-जन्म मिलता है। यदि वासनाएँ न हों तो शरीर धारण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। घड़े का निर्माण ही तब किया जाता है जब उसमें कुछ भरने को है अन्यथा आवश्यकता ही नहीं है। भोग की वासनायें होने से ही शरीर की आवश्यकता होती है क्योंकि शरीर एवं इन्द्रियों से ही भोग संभव है। जीवन में पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं। जिनसे दोनों प्रकार के संस्कार बनते हैं तथा दोनों को ही भोगना पड़ता है। इनको भोगने के लिए ही मनुष्य को नया जन्म आयु तथा भोग प्राप्त होते हैं। यदि नया जन्म पुण्य कर्मो का परिणाम होता है तो मनुष्य सुखी, शान्त, दूसरों की सेवा करने वाला, धर्म में प्रीति रखने वाला तथा आनन्द में रहता है। इसके विपरीत पाप कर्मो का परिणाम होने पर वह दुःखी एवं अशान्त रहता है। इसी प्रकार आयु का जितना भाग पुण्य कर्म का परिणाम होता है वह सुख, आनन्द एवं उल्लास से व्यतीत होता है तथा जितना भाग पाप कर्म का परिणाम होता है वह दुःख पूर्ण तथा अशान्त

व्यतीत होता है। जीवन में उथल पुथल आने का यही कारण है। एक विशेष अवधि में मनुष्य सुखी एवं सम्पन्न रहता है। किन्तु अचानक उस पर निरन्तर विपत्तियाँ आती रहती हैं। इनका कारण इन कर्म संस्कारों का उदय होना ही है। इसी प्रकार विभिन्न भोग भी कर्म संस्कारों का परिणाम है। एक व्यक्ति सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करते हुए सभी भोगों को सुख पूर्वक भोगता है तथा दूसरा निरन्तर संघर्ष करते हुए भी इनसे वंचित रहता है। यह सब इन्हीं कर्म संस्कारों का परिणाम है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि जो भोगता है उन्हें ईश्वरेच्छा समझ कर भोगे तथा अपने उत्तम कर्मो द्वारा नये उत्तम संस्कारों का निर्माण करे। क्योंकि मनुष्य जीवन केवल भोग योनि ही नहीं है बल्कि कर्म योनि भी है तथा इन कर्मो पर मनुष्य का पूर्ण अधिकार है इस पर ईश्वर का भी अधिकार नहीं है न ईश्वर कर्म में हस्तक्षेप ही करता है। अपने ही कर्मो से मनुष्य देवता भी बन सकता है तथा राक्षस भी। क्या बनना है इसका चुनाव मनुष्य के ही अधिकार में है। यही मनुष्य जीवन की विशेषता है जो अन्य प्राणियों में नहीं है। इसलिए कहा गया है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। ईश्वर की उसे दुःख देने में कोई रुचि नहीं है।

सूत्र—१५

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाश्च दुःखमेव सर्व विवेकिनः।

परिणामतापसंस्कारदुःखैः=परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकार के दुःख सबमें विद्यमान रहने के कारण, **च**=और; **गुणवृत्तिविरोधात्**=तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण; **विवेकिनः**=विवेकी के लिये; **सर्वम्**=सब-के-सब (कर्मफल); **दुःखम् एव**=दुःखरूप ही हैं।

अनुवाद— परिणाम दुःख, ताप दुःख, और संस्कार दुःख ऐसे तीनों प्रकार के दुःख सबमें विद्यमान रहने के कारण और तीनों गुणों (सत्व-रज़-तम) की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी के लिए सबके सब दुःख रूप ही हैं।

व्याख्या—ऊपर बताया गया है कि ये कर्म फल सुख तथा दुःख देने वाले है किन्तु जिसे हम जीवन में सुख देने वाले कहते हैं वे भी अन्त में दुःख देने वाले ही सिद्ध होते हैं। इसका कारण है कि शरीर और इन्द्रियों से भोगे जाने वाले सभी सुख अनित्य होते हैं। थोड़े समय सुख देकर वे लम्बे समय तक दुःख का कारण बन जाते हैं। ऐसे सुख चार प्रकार से दुःख देने वाले होते हैं। पहला 'परिणाम दुःख' है जिसमें विषयों को भोगते समय तो वे आनन्द देते हैं किन्तु उनका परिणाम दु·ख ही होता है जैसे स्त्री संसर्ग, सुस्वादु भोजन, नशा आदि भोगते समय सुखद प्रतीत होते हैं किन्तु इनका परिणाम बल, वीर्य, तेज की क्षति, बच्चों का पालन-पोषण, व्याधियों का होना आदि परिणाम दुःख हैं। इसी प्रकार भोगने की शक्ति समाप्त होने पर उन भोगों के प्रति जो तृष्णा रह जाती है वह भी दुःख का कारण होती है। भोगने में जब सुख की प्रतीति होती है तो राग उत्पन्न होता है जिससे आसक्ति बढ़ जाती है। यह राग भी 'क्लेश' है जो दुःख का कारण है। इस आसक्ति के कारण ही मनुष्य अनेक पाप-पुण्य करके भी उन्हें प्राप्त करना चाहता है, साधनों में विघ्न आने पर द्वेष उत्पन्न होगा, इससे वह हिंसा, चोरी, बलात्कार आदि अनेक कुकृत्य करेगा, जिससे वह सजा भी पायेगा। इसलिए ऐसे सभी कर्मो का परिणाम दुःख ही है। दूसरे प्रकार का दुःख 'ताप दुःख' है। सभी भोग अनित्य हैं। उनके विनाश की संभावना से भी दुःख होता है तथा सभी भोग सापेक्ष होते हैं। दूसरों को अच्छी स्थिति में देखकर ईर्ष्या भी होती है, भोग की अपूर्णता से भी सन्ताप बना रहता है। ये सभी 'ताप दुःख' है। तीसरा 'संस्कार दुःख' है। भोगों के बाद भी

स्मृति शेष रह जाती है वही संस्कार बन जाती है। अतीत की स्मृतियों के बार-बार आने से व्यक्ति दुःखी होता है। ये संस्कार अगले जन्मों में भी दुःख का कारण बनते हैं। चौथा 'गुण वृत्ति विरोध' से उत्पन्न दुःख है। सभी कर्म तीनों गुणों सत्व, रज, तम से मिश्रित होते हैं जो परस्पर विरोधी हैं इसलिए भोग काल में भी दुःख की प्रतीति होती है।

इसलिए विवेकीजन के लिए दोनों ही प्रकार के भोग चाहे वे दुःख देने वाले हों अथवा सुख देने वाले सबके सब दुःख रूप ही हैं जो त्याज्य हैं। इसलिए ज्ञानी तो स्वर्ग सुख भी त्यागकर मोक्ष की ही इच्छा करते हैं। वासना ग्रस्त ही स्वर्ग की चाह करता है। अष्टावक्र राजा जनक से इसलिए कहते हैं कि—हे प्रिय! यदि तू मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, आर्जव, दया, सन्तोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर (अष्टावक्र गीता १/२)। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है। इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुख रूप भासते हैं तो भी निःसन्देह दुःख के ही हेतु हैं और आदि-अन्त वाले अर्थात् अनित्य है। इसलिए हे अर्जुन! बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।" (गीता ५/२२)

सूत्र—१६

हेयं दुःखमनागतम्।

अनागतम्=जो आया नहीं है—आनेवाला है वह; **दुःखम्**=दुःख; **हेयम्**=हेय (नष्ट करने योग्य) है।

अनुवाद— *आने वाला दुःख नष्ट करने योग्य है।*

व्याख्या—अनेक जन्मों में जो शुभ तथा अशुभ कर्म किये गये हैं उनसे निर्मित संस्कारों का समुदाय चित्त में विद्यमान रहता है तथा प्रत्येक जन्म में उनका कुछ अंश ही जाति, आयु तथा भोग रूप में भोगा जाता है। शेष संस्कार अगले जन्मों में भोगने के लिए संचित रहते हैं। ये

कर्म संस्कार भोगने पर ही छूटते हैं। पूर्वजन्मों में जिन संस्कारों का फल भोगा जा चुका है वे समाप्त हो गये तथा इन जन्मों में जिन्हें भोगना है उन्हें भोगने से वे अपने आप छूट जायेंगे। उनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता किन्तु जिन संचित संस्कारों का फल अगले जन्मों में भोगा जाने वाला है उन्हें नष्ट करने का उपाय करना चाहिए जिससे पुनर्जन्म न हो। ये सब दुःख अविद्या के कारण हैं जिसे आत्मज्ञान प्राप्त करके ही मिटाया जा सकता है। इसलिए इसका एक मात्र उपाय योग ही है। आत्मज्ञान से संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं, प्रारब्ध को भोग लेता है तथा आगे के लिए संस्कार निर्मित नहीं होते।

सूत्र—१७

द्रष्टादृष्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

द्रष्टृदृश्ययोः=द्रष्टा और दृश्य का; **संयोगः**=संयोग; **हेयहेतुः**=(उक्त) हेय का कारण है।

अनुवाद— दृष्टा और दृष्य का संयोग दुःख का कारण है।

व्याख्या—किसी शुद्ध तत्व में जब कोई विजातीय तत्व मिला दिया जाता है तो वह अशुद्ध हो जाता है तथा उसका स्वरूप, गुण, धर्म आदि बदल जाता है। यह विकृत वस्तु ही हानिकारक सिद्ध होती है। इसी प्रकार दृष्टा (आत्मा) का दृश्य (प्रकृति) से संयोग होने से वह भी अपना शुद्ध स्वरूप विस्मृत कर दृश्य जैसा ही प्रतीत होने लगता है जिसे अविद्या तथा अज्ञान कहते हैं। यही संयोग संसार में सभी दुःखों का कारण है। ज्ञानीजन दोनों को भिन्न-भिन्न समझकर इस प्रकृति तत्व को उस चेतन से अलग करके पुनः शुद्ध आत्म तत्व को प्राप्त कर लेता है। यही उसकी मुक्ति अथवा कैवल्य है। इससे दुःखों से मुक्ति तथा आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि आत्मा सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप है।

सूत्र—१८

प्रकाशक्रियास्थिति शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम्।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्=प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है; **भूतेन्द्रियात्मकम्**=भूत और इन्द्रियाँ जिसका (प्रकट) स्वरूप है; **भोगापवर्गार्थम्**=(पुरुष के लिये) भोग और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है, ऐसा; **दृश्यम्**=दृश्य है।

अनुवाद— प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रियाँ जिसका स्वरूप हैं, पुरुष के लिए भोग और मुक्ति का संपादन करना ही जिसका प्रयोजन है, ऐसा दृश्य है।

व्याख्या—इस सूत्र में प्रकृति (दृश्य) के स्वभाव का वर्णन किया गया है कि 'प्रकाश' क्रिया तथा स्थिति इसका स्वभाव है। विज्ञान की आधुनिक खोज ने भी यही सिद्ध किया है कि पदार्थ और ऊर्जा भिन्न नहीं हैं बल्कि भिन्न स्थितियाँ हैं। इस ऊर्जा का घनीभूत रूप ही पदार्थ दिखाई देता है। विज्ञान पहले इन जड़ पदार्थों की मूल इकाई 'अणु' मानता था। अणु का विखण्डन संभव होने पर उससे 'परमाणु' प्राप्त हुआ तो विज्ञान कहने लगा कि इन विभिन्न परमाणुओं के संयोग से ही तत्वों का निर्माण हुआ है तथा इन्हीं तत्वों के संयोग से विभिन्न पदार्थों का निर्माण हुआ है। इसके बाद वैज्ञानिक इन परमाणुओं की नाभि में पाये जाने वाले प्रोटोन्स के भी विखण्डन में सफल हुए तो उन्हें मिली तीव्र ऊर्जा जिसे उन्होंने 'परमाणु शक्ति' कहा। इस परमाणु शक्ति से यह भी ज्ञात हुआ कि यह परमाणु ऊर्जा भी कणों में पाई जाती है। जब इसका भी विखंडन किया गया तो ज्ञात हुआ कि इसमें केवल ऊर्जा ही ऊर्जा है। पदार्थ कहीं है ही नहीं। यह ऊर्जा भी ऐसी है जो स्थिर भी है तथा गतिशील भी, पदार्थ भी है व तरंग भी। दोनों स्थितियाँ एक साथ होने से विज्ञान ने इसका नाम 'क्वाँटा' दिया। विज्ञान कहता है कि पदार्थ

का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। यही ऊर्जा जड़-चेतन का कारण है। यह प्रकाश भी है। विज्ञान जिस ऊर्जा की बात आज कह रहा है भारतीय अध्यात्म उसे हजारों वर्ष पूर्व जानता था। पतंजलि का यह सूत्र यही 'क्वटॉम सिद्धान्त' है कि यह प्रकृति तीन गुणों (सत्व, रज, तम) से युक्त एक शक्ति है तथा 'प्रकाश क्रिया और स्थिति' इन तीनों गुणों का स्वभाव है। सत्य का प्रकाश, रज की क्रिया तथा तम की स्थिति। इस शक्ति का उस चैतन्य (पुरुष) के साथ संयोग होने से ही सृष्टि का निर्माण होता है। अकेली यह जड़ शक्ति या प्रकृति सृष्टि का निर्माण नहीं कर सकती। ये समस्त भूत पदार्थ तथा इंद्रियाँ इस प्रकृति का स्वरूप हैं जो उसका साकार रूप है। क्योंकि यह शक्ति निराकार है। यही प्रकृति विभिन्न रूप एवं आकारों में प्रकट होकर जीव के लिए भोगों का सम्पादन करती हैं तथा दूसरी ओर मुक्ति की ओर भी ले जाती है। यही अविद्या तथा विद्या है जो इस प्रकृति के ही गुण हैं।

अध्यात्म की दृष्टि से विज्ञान अभी शैशवावस्था में है। उसे पूर्ण का अभी कुछ पता नहीं है। जो खोज हुई है वह महत्वपूर्ण अवश्य है किन्तु अपूर्ण है। अध्यात्म इससे भी आगे उन सूक्ष्म तथ्यों की खोज कर चुका है जहाँ तक विज्ञान को पहुँचने में अभी पाँच सौ वर्ष और लग सकते हैं। फिर विज्ञान की खोज एकांगी है। वह भौतिक क्षेत्र में ही प्रगति कर रहा है। उसे उस चेतना का कुछ पता नहीं है जिसका परिणाम विध्वंस की ओर ही जा रहा है। चेतना से उसका संपर्क हुए बिना इसे कभी भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अध्यात्म केवल उस चेतन तत्व को ही सब कुछ मानता है। यह जड़ प्रवृत्ति उसी की क्रियाशीला शक्ति है। दोनों के संयोग से ही सृष्टि है। बिना चेतन के संयोग के अकेली प्रकृति कुछ नहीं कर सकती जिस प्रकार बिना चालक के मशीने व्यर्थ हैं।

इस सूत्र में प्रकृति की और अधिक स्पष्ट व्याख्या की गई है कि

यह प्रकृति सत्व, रज तथा तम इन तीन गुणों से युक्त है। इन तीनों की साम्यावस्था ही 'प्रकृति' है। हम इन तीनों गुणों तथा इनके कार्यों को ही देखते हैं, सुनते हैं तथा समझते हैं। सत्वगुण का धर्म प्रकाश है, रजोगुण का धर्म 'क्रिया' (हलचल, गति) है तथा तमोगुण का धर्म 'जड़ता' (स्थिति) और 'सुषुप्ति' है। इन गुणों की मात्रा भी भिन्नता से ही विभिन्न जड़ चेतन पदार्थों का निर्माण होता है। ये तीनों गुण ही प्रकृति का स्वभाव है। यही प्रकृति अपने स्वभाव के कारण ही निम्न तेईस तत्वों का निर्माण करती है जो इसका स्वरूप है। ये तत्व हैं पाँच स्थूल भूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी), इनकी पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण) एवं मन, बुद्धि और अहंकार। यही प्रकृति भोगासक्त पुरुष को अपना स्वरूप दिखला कर उसे भोगों की ओर उसी प्रकार आकृष्ट कर उनको भोग प्रदान करती है जिस प्रकार कोई युवती अपने शृंगार, चाल ढाल एवं विभिन्न भाव-भंगिमाओं से किसी युवक को आकृष्ट कर उसे भोग प्रदान करती है। इसलिए प्रकृति को 'माया' कहा गया है। किन्तु यह प्रकृति केवल भोग ही प्रदान नहीं करती बल्कि मुक्ति चाहने वाले योगियों को दृष्टा (आत्मा) का स्वरूप दिखलाकर उन्हें मुक्ति भी प्रदान करती है। इसलिए इस प्रकृति का यह दोहरा कार्य है। जब यह प्रकृति साधक को दृष्टा का स्वरूप दिखा देती है तो स्वयं लुप्त हो जाती है क्योंकि फिर इसका कोई कार्य शेष नहीं रहता। जब तक मनुष्य इस प्रकृति (माया) के भोगों के जाल में फँसा रहता है तब तक मुक्ति की संभावना नहीं है तथा मुक्त होने पर माया अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती।

प्रकृति के जिन गहन तलों का विश्लेषण अध्यात्म ने किया है वहाँ तक अभी विज्ञान की पहुँच नहीं हो पाई है।

को 'अविशेष' कहते हैं क्योंकि इन छ:हों का स्वरूप इन्द्रिय गोचर नहीं है। चौथी अवस्था को 'विशेष' कहते हैं। इस अवस्था में पाँच स्थूल भूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन का विकास होता है। इन सोलह के समुदाय को ही 'विशेष' कहते हैं क्योंकि इन गुणों के जो-जो धर्म हैं उनकी अभिव्यक्ति इन्हीं से होती है। ये इन गुणों का प्रकट रूप है। ये तीनों गुण इन चारों अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं इसलिए इन्हें 'दृश्य' (प्रकृति) कहते हैं अर्थात जो कुछ दिखाई देता है वह प्रकृति ही है तथा सभी कार्य प्रकृति के ही कार्य हैं। इस सूत्र के अनुसार सृष्टि का कृमिक विकास हुआ है। यह इसकी उत्पत्ति की वैज्ञानिक व्याख्या है।

सूत्र—२०

द्रष्टा दृशिमात्रःशुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

दृशिमात्रः=चेतनमात्र (ज्ञानस्वरूप आत्मा); **द्रष्टा**=द्रष्टा; **शुद्धः अपि**=यद्यपि स्वभाव से सर्वथा शुद्ध (निर्विकार) है, तो भी; **प्रत्ययानुपश्यः**=(बुद्धि के सम्बन्ध से) बुद्धिवृत्ति के अनुरूप देखनेवाला है।

अनुवाद— *चेतन मात्र (आत्मा) दृष्टा यद्यपि स्वभाव से सर्वथा शुद्ध (निर्विकार) है तो भी बुद्धि वृत्ति के अनुरूप देखने वाला है।*

व्याख्या—पहले बताया गया है कि प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के संयोग से ही सृष्टि है। इसमें प्रकृति के कार्य, गुण तथा स्वभाव को पहले बताया गया है। यह दृश्य जगत् तथा इसके सूक्ष्म कारण भूत तत्व सब प्रकृति ही हैं इसलिए इस प्रकृति को 'दृश्य' कहा गया है। जब दृश्य है तो दृष्टा भी होना ही चाहिए। इस सूत्र में इस दृष्टा की व्याख्या की गई है कि यह प्रकृति जड़ है इसलिए यह स्वयं नहीं देख सकती। वह चेतनमात्र, ज्ञान स्वरूप जो आत्मा है वही दृष्टा है। यह आत्मा

सर्वथा शुद्ध, निराकार, असंग, कूटस्थ (स्थिर) आदि अनेक विशेषताओं वाली है किन्तु वह न कर्ता है न भोक्ता। वह सृष्टि का उपादान कारण भी नहीं है किन्तु निमित्त कारण है। उसकी उपस्थिति मात्र अनिवार्य है। अन्य सभी कार्य प्रकृति का ही है। यह आत्मा केवल दृष्टा है किन्तु इसका सम्बन्ध प्रकृति के साथ हो जाने से वह बुद्धि (चित्त) की वृत्तियों के अनुरूप देखता है। इसका यह सम्बन्ध अविद्या के कारण है जो अनादि कहा जाता है।

सूत्र—२१

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।

दृश्यस्य=(उक्त) दृश्य का; **आत्मा**=स्वरूप; **तदर्थः एव**=उस (द्रष्टा) के लिये ही है।

अनुवाद— उक्त दृश्य का स्वरूप उस दृष्टा (आत्मा) के लिए ही है।

व्याख्या—दृश्य (प्रकृति) का यह स्वरूप उस दृष्टा (आत्मा) के लिए ही है क्योंकि देखने वाला वही है। यह उस दृष्टा को अपने दर्शन द्वारा भोग प्रदान करने के लिए तथा उसे निज स्वरूप का दर्शन करा कर अपवर्ग (मुक्ति) प्रदान करने के लिए ही है। ये दोनो कार्य वह अविद्या तथा विद्या के द्वारा करती है। यही इसका प्रयोजन है।

सूत्र—२२

कृतार्थ प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

कृतार्थम् प्रति=जिसका भोग और अपवर्गरूप कार्य पूर्ण कर दिया, उस पुरुष के लिये; **नष्टम्**=नाश को प्राप्त हुई; **अपि**=भी (वह प्रकृति); **अनष्टम्**=नष्ट नहीं होती; **तत् अन्यसाधारणत्वात्**=क्योंकि दूसरों के लिये भी वह समान है।

अनुवाद— *सिद्ध पुरुष के लिए यह दृश्य नष्ट होता हुआ भी अन्य साधारणों के लिए वह नष्ट नहीं हुआ है।*

व्याख्या—यही प्रकृति किसी साधक को सिद्धावस्था से पहुँचने पर उसको दृष्टा का ज्ञान करा कर मुक्ति प्रदान करती है। इसके बाद उसका कोई कार्य शेष नहीं रह जाता जिससे वह प्रभावहीन हो जाती है किन्तु उसका सर्वथा अभाव नहीं होता क्योंकि इसे अनादि माना गया है। उसका कार्य अन्य साधारणों के लिए उसी प्रकार चलता रहता है। क्योंकि कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता। केवल साधक ही इससे मुक्त होता है। अन्य व्यक्तियों पर यह प्रभाव दिखाती ही रहती है।

सूत्र—२३

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः।

स्वस्वामिशक्त्योः=स्वशक्ति (प्रकृति) और स्वामिशक्ति (पुरुष)—इन दोनों के; **स्वरूपोपलब्धिहेतुः**=स्वरूप की प्राप्ति का जो कारण है, वह; **संयोगः**='संयोग' है।

अनुवाद— *स्व-शक्ति (प्रकृति) और स्वामी शक्ति (पुरुष) के स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही इन दोनों का संयोग हुआ है।*

व्याख्या—इस दृश्य (प्रकृति) का स्वरूप दृष्टा के लिए ही है क्योंकि दृष्टा इस प्रकृति के माध्यम से ही देखता है। बिना प्रकृति के वह दृष्टा (आत्मा) अकेला कुछ नहीं कर सकता। जिस प्रकार एक अच्छा वैज्ञानिक प्रयोग शाला के बिना तथा एक अच्छा कारीगर औजारों के बिना कार्य नहीं कर सकता, उसकी प्रतिभा को प्रकट करने के लिए साधनों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार उस चैतन्य (आत्मा) ने अपने स्वरूप को पूर्ण रूपेण प्रकट करने के लिए इस प्रकृति को स्वेच्छा से स्वीकार किया। जिस प्रकार वंश वृद्धि के लिए स्त्री को पत्नी रूप में स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है क्योंकि उसके बिना वंश वृद्धि नहीं हो

सकती ठीक इसी प्रकार इस चेतन्य ने अपने संकल्प 'एकोऽहं बहुस्याम' को पूरा करने के लिए इसे स्वीकार किया किन्तु इसके विभिन्न रूपों तथा लावण्यमय स्वरूप से प्रभावित होकर वह निज स्वरूप को भूल गया तथा इस प्रकृति के स्वरूप को ही अपना स्वरूप समझने लग गया। इसका मुख्य कारण अविद्या अथवा अज्ञान है। यह प्रकृति स्व शक्ति है तथा वह पुरुष (चेतन) स्वामी शक्ति है। अर्थात् यह चेतन (आत्मा) ही स्वामी है तथा यह प्रकृति 'स्व' अर्थात् इसका अधिकृत पदार्थ है। प्रकृति का कार्य मनुष्य के लिए नाना प्रकार के भोगों को प्रदान करना तथा उसे उस दृष्टा (आत्मा) का स्वरूप दिखाना है। इसी के लिए इसका संयोग हुआ है। दृष्टा के स्वरूप के बाद यह संयोग समाप्त हो जाता है। आत्मा का ज्ञान प्रकृति के माध्यम से ही सम्भव है तथा भोग भी इसी से होता है।

सूत्र—२४
तस्य हेतुरविद्या।

तस्य=उस संयोग का; **हेतुः**=कारण; **अविद्या**=अविद्या है।

अनुवाद— *उस संयोग का कारण अविद्या है।*

व्याख्या—इस सूत्र में इस संयोग का कारण बताया गया है कि उस चेतन पुरुष का जो स्वयं निर्विकार, असंग है संयोग इस प्रकृति से क्यों हुआ? यह संयोग वास्तव में भौतिक संयोग नहीं है बल्कि अविद्या से इसका संयोग मान लिया गया है। विद्या तथा अविद्या इस प्रकृति का गुण है। अविद्या के कारण वह वासना ग्रस्त होकर संसार के भोगों को भोगती है तथा विद्या के कारण वह इनसे विरुद्ध होकर आत्मज्ञान कराती है। चेतन और जड़ का संयोग इस अविद्या के कारण ही प्रतीत होता है। इसी अज्ञान का निवारण समाधि की स्थिति में होता है जब दोनों की भिन्न प्रतीति होती है जिससे योगी प्रकृति के संयोग की इस भ्रान्ति को

छोड़ देता है तथा वह अपना निज स्वरूप आत्मा को जो दृष्टा है प्राप्त कर लेता है। अविद्या का नाश आत्मज्ञान के बिना नहीं होता। चेतन आत्मा का ज्ञान भी प्रकृति के माध्यम से ही होता है जिसे 'विद्या' कहते हैं। अविद्या के कारण ही पुरुष (आत्मा) एवं जड़ प्रकृति संयुक्त ज्ञात होते हैं किन्तु दोनों दो भिन्न शक्तियाँ हैं जिनका कार्य भी भिन्न-भिन्न है। विद्या के द्वारा योगी को यह स्पष्ट हो जाता है कि यह समस्त सृष्टि प्रकृति की ही रचना है तथा मनुष्य वह जड़ प्रकृति नहीं बल्कि वह चेतन तत्त्व है। इसी से उसकी समस्त भ्रान्तियाँ मिट कर वह सत्य ज्ञान को उपलब्ध होता है, सृष्टि की वास्तविकता को जान लेता है। प्रकृति एवं पुरुष की भिन्नता का बोध हो जाना ही मुक्ति का हेतु है।

सूत्र—२५

तदभावात्संयोगाभावो हानं तदृशेः कैवल्यम्।

तदभावात्=उस (अविद्या) के अभाव से; **संयोगाभावः**=संयोग का अभाव (हो जाता है, यही); **हानम्**='हान' (पुनर्जन्मादि भावी दुःखों का अत्यन्त अभाव) है (और); **तत्**=वही; **दृशेः**=चेतन आत्मा का; **कैवल्यम्**='कैवल्य' है।

***अनुवाद**— इस अविद्या के अभाव में संयोग का अभाव हो जाता है जिसे 'हान' (पुनर्जन्म आदि भावी दुःखों का अन्त) कहते हैं। वही चेतन आत्मा का कैवल्य है।*

व्याख्या—पुरुष (आत्मा) तथा प्रकृति का जो संयोग अविद्या के कारण हुआ था, आत्मज्ञान से उसका अभाव हो जाता है साधक स्वयं देख लेता है कि यह प्रकृति उस चैतन्य से भिन्न है। इस प्रकार के ज्ञान से प्रकृति के इस संयोग का अभाव हो जाता है जिससे पुनर्जन्म आदि भावी दुःखों का अन्त हो जाता है। यही उस चैतन्य आत्मा का कैवल्य है। इस स्थिति में आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। सृष्टि का

उपादान कारण 'प्रकृति' है तथा 'पुरुष' उसका निमित्त कारण है। जिस प्रकार स्वर्ण में ताँबे की मिलावट होने पर वह ताँबा भी स्वर्ण जैसा प्रतीत होता है किन्तु उसका शोधन कर ताँबे को अलग करके शुद्ध स्वर्ण प्राप्त किया जाता है। उसी प्रकार योगी योग-साधना द्वारा प्रकृति का उस चेतन के साथ अविद्या के कारण जो संयोग हो गया है उसे अलग करके पुनः अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा को प्राप्त कर लेता है। यही उसकी 'कैवल्य' अथवा 'मोक्ष' की स्थिति है। इसके बाद ही पुनर्जन्म आदि दुःखों का अन्त होता है। जब तक उस चैतन्य आत्मा के साथ प्रकृति के थोड़े से भी अंश का संयोग रहता है तब तक कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती तथा उसके दुःखों का अन्त भी नहीं होता। इस संयोग को दूर करने के लिए उसकी कारण रूपा अविद्या को ही दूर करना एकमात्र उपाय है।

सूत्र—२६

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

अविप्लवा=निश्चल और निर्दोष; **विवेकख्यातिः**=विवेकज्ञान; **हानोपायः**=(उक्त) 'हान' का उपाय है।

अनुवाद— *निश्चल और निर्दोष विवेकज्ञान 'हान' का उपाय है।*

व्याख्या—इस अविद्या के कारण पुरुष (आत्मा) तथा प्रकृति मिले हुए ज्ञात होते हैं। प्रकृति मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, अहंकार आदि के द्वारा अपना कर्म करती है। जिससे संसार में पुनर्जन्म आदि दुःख होते हैं किन्तु समाधि की स्थिति में जब इनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो ज्ञात होता है कि आत्मा इससे सर्वथा भिन्न एवं असंग है। इस प्रकार आत्मा और प्रकृति की भिन्नता का ज्ञान हो जाने को ही यथार्थ ज्ञान अथवा 'विवेक ज्ञान' कहते हैं। समाधि की स्थिरता से यह विवेक ज्ञान निश्चल और दोष रहित हो जाता है। इसमें किसी प्रकार का भी

मल नहीं रहता। इसी से अविद्यादि क्लेश दूर होते हैं जो समस्त दुःखों का बीज है। इसके अभाव से समस्त कर्म संस्कारों का अभाव हो जाता है तथा चित्त अपने कारण में विलीन हो जाता है जिससे प्रकृति का समस्त व्यापार बन्द हो जाता है। यही जीव की परम उपलब्धि है। दुःखों की निवृत्ति का उपाय कर्म नहीं है बल्कि वह विवेक ज्ञान है जो आत्मज्ञान के बाद ही प्राप्त होता है। सत्यासत्य का निर्णय इसी ज्ञान से होता है। इसी ज्ञान को प्राप्त करके योगी असत्य (प्रकृति) का त्याग करके सत्य स्वरूप आत्मा को अपना स्वरूप मान लेता है व असत्य का त्याग कर देता है। इसी से वह कैवल्यावस्था को प्राप्त होता है।

विवेक जाग्रत होने पर योगी को दुःख, दुःख का हेतु, मोक्ष, मोक्ष का हेतु, बुद्धि की कृतार्थता, बुद्धि लय तथा अपुनरुत्पत्ति का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है। यही 'विवेक ख्याति' है। यही दुःख नाश का उपाय है।

सूत्र—२७

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।

तस्य=उस (विवेक ज्ञान प्राप्त) पुरुष की; **सप्तधा**=सात प्रकार की; **प्रान्तभूमिः**=अन्तिम स्थितिवाली; **प्रज्ञा**=बुद्धि (होती है)।

अनुवाद— *इस पुरुष की सात प्रकार की सबसे ऊँची अवस्था वाली बुद्धि होती है।*

व्याख्या—जिस व्यक्ति को विवेक ज्ञान प्राप्त हो जाता है उसकी बुद्धि सात प्रकार के चिह्नों वाली होती है जो सबसे अच्छी ऊँची अवस्था वाली है। इस अवस्था में उसके चित्त पर जो अविद्या जनित आवरण था वह नष्ट हो जाता है तथा चित्त अपने कारण में विलीन हो जाता है। इसी को परमानन्द की स्थिति कहते हैं, यही परमपद है तथा इसी को 'सत्य को उपलब्ध' होना कहते हैं, यही योग है। इस ज्ञान में वह सात प्रकार का अनुभव करता है जो जीव की सबसे ऊँची अवस्था है।

१. 'जो कुछ जानना था जान लिया।' अब जानने को कुछ शेष नहीं रहा। यह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही सर्व दुःखों का कारण है। इसका स्वरूप अनित्य तथा परिणामी है। इसका ज्ञान हो गया।

२. अविद्या के कारण प्रकृति का आत्मा के साथ जो संयोग हो गया था उस प्रकृति का पुनः अभाव हो गया जिससे 'दुःखों के कारणों का अन्त हो गया।' जिससे पुनर्जन्म आदि दुःखों का भी अन्त हो गया।

३. प्रकृति का अभाव हो जाने से 'जो कुछ प्राप्त करना था कर लिया, अर्थात् अपने आत्म स्वरूप में स्थिति हो जाना ही उपलब्धि थी सो हो गई। अब कुछ पाने को शेष नहीं रहा। अन्तिम स्थिति 'कैवल्य' की उपलब्धि हो गई।

४. 'जो कुछ करना था कर लिया। इन दुःखों के अन्त का उपाय जो विवेक ज्ञान है उसे सिद्ध कर लिया। अब कुछ करना शेष नहीं रहा।

५. चित्त (प्रकृति) का कार्य था भोग और मुक्ति देना वह पूरा हो गया। अब इसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा। बन्धन और मुक्ति दोनों छूट गये।

६. अब यह चित्त अपने स्वरूप को छोड़कर अपने कारण रूप गुणों में विलीन हो रहा है क्योंकि उसका भोग और मुक्ति के दोनों कार्य पूर्ण हो चुके। अब उसका कोई कार्य शेष नहीं रहा।

७. यह पुरुष (आत्म तत्व) तीनों गुणों से मुक्त होकर अपनी निर्गुण, निराकार, असंग एवं कूटस्थ अवस्था में अर्थात अपने ही स्वरूप में अचल भाव से स्थिर हो गया।

इन सातों प्रकार के चिह्नों में प्रथम चार को 'कार्य विमुक्ति प्रज्ञा' तथा शेष तीन को 'चित्त विमुक्ति प्रज्ञा' कहते हैं। प्रथम चार अवस्थाओं में चित्त के कार्यो के छूटने का विवेक ज्ञान होता है तथा अन्तिम तीन में

चित्त का जो त्रिगुणात्मक रूप का अस्तित्व है उसके भी छूटने का ज्ञान हो जाता है। ऐसा योगी 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। चित्त जब अपने कारण में विलीन हो जाता है तो उसे 'विदेह मुक्त' कहते हैं।

सूत्र—२८

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेक ख्यातेः।

योगाङ्गानुष्ठानात्=योग के अंग का अनुष्ठान करने से; **अशुद्धिक्षये**=अशुद्धि का नाश होने पर; **ज्ञानदीप्तिः**=ज्ञान का प्रकाश; **आविवेकख्यातेः**=विवेक ख्याति पर्यन्त हो जाता है।

अनुवाद— योग के अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का क्षय होकर विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होता है।

व्याख्या—इस सूत्र में विवेक ज्ञान की प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है कि योग के आठ अंग हैं, जिसे 'अष्टांग योग' कहते हैं उनका अनुष्ठान करने से जितनी प्रकृति स्वरूप अशुद्धियों का संयोग उस आत्मा के साथ अविद्या के कारण हो गया था उनका नाश होकर विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। उस स्थिति में वह अपने आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है जो मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि समस्त प्रकृति जन्य जड़ तत्वों से भिन्न है। अष्टांग योग के साधन से ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों अज्ञान छूटता जाता है। अन्त में केवल वह सत्य ज्ञान ही शेष रह जाता है। इन साधनों से चित्त शुद्ध होता है तथा शुद्ध चित्त होने पर ही विवेक ज्ञान होता है।

सूत्र—२९

यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि।

यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान

समाधयः=यम, नियम, आंसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि; **अष्टौ**=ये आठ; **अङ्गानि**=(योग के) अंग हैं।

अनुवाद— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं।

व्याख्या—ऊपर के सूत्र में बताया गया है कि योग के अंगों का अनुष्ठान करने से चित्त का समस्त मल दूर होकर साधक को विवेक ख्याति पर्यन्त ज्ञान होता है। इस सूत्र में योग के आठ अंग बताये गए हैं जिनके क्रमिक अनुष्ठान से ही अविद्या जनित चित्त के सभी दोष (मल) दूर होकर चित्त निर्मल होता है। यह चित्त एक दर्पण के समान हैं जिसके स्वच्छ होने पर ही आत्मा का बिम्ब साफ दिखाई देता है किन्तु इस चित्त पर विकारों की धूलि जम गई है जिसे पोंछे बिना आत्म दर्शन नहीं होता। अथवा यों कहा जा सकता है कि चित्त में वासना के कारण वृत्तियों की तरंगें निरन्तर उठ रही हैं जिनके शान्त हुए बिना आत्मा का बिम्ब नहीं दिखाई देता। इस धूलि को साफ करने के लिए चित्त के सभी अंगों को स्वच्छ करना है। इन्हें स्वच्छ करने के लिए ही योग के ये आठ अंग हैं जिनका अनुष्ठान करना आवश्यक है। ये अंग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन्हें क्रम से साधने पर चित्त भी शुद्ध होता जाता है तथा प्रत्येक के साथ उपलब्धि होती जाती है। 'यम' के सामने से बाह्य आचरण सम्बन्धी सुधार होता है, 'नियमों' से भीतर का सुधार होता है, 'आसनों' से शरीर की शुद्धि होती है, 'प्राणायाम' से श्वांस की शुद्धि होती है, 'प्रत्याहार' से इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं, 'धारणा' से मन शुद्ध होता है, 'ध्यान' से अस्मिता में सुधार होता है तथा 'समाधि' में बुद्धि 'चित्त' का सुधार होता है। इन सबकी शुद्धि से चित्त निर्मल होकर सत्य स्वरूप आत्मा का ज्ञान होता है। ये आठ सीढ़ियाँ हैं जिनपर चलकर ही योग लाभ प्राप्त होता है। दुनिया में जितने भी योग मार्ग हैं वे सब इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं।

इनका आगे विस्तार से वर्णन किया गया है।

सूत्र—३०

अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः=अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह का अभाव)— ये पाँच; **यमाः**=यम हैं।

अनुवाद— अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (संग्रह न करना) ये पाँच 'यम' हैं।

व्याख्या—योग के आठ अंगों में पहला 'यम' है जो बाह्य आचरण सम्बन्धी सुधार करता है। व्यक्ति का आचरण शुद्ध होने पर उसका मन शुद्ध होता है तथा अच्छे संस्कार बनते हैं। अपनी मर्यादा में रहने से दूसरों के द्वारा की गई प्रतिक्रिया से वह बच जाता है। ये यम पाँच हैं—

१. **अहिंसा**—अहिंसा का बड़ा व्यापक अर्थ है। किसी को नहीं मारना ही अहिंसा नहीं है बल्कि मन, वचन एवं शरीर से किसी भी प्राणी को कभी किसी प्रकार किंचिद् मात्र भी दुःख न पहुँचाना 'अहिंसा' है।

२. **सत्य**—इन्द्रिय और मन से जैसा देखा, सुना या अनुभव किया गया है उसे वैसा ही कहना 'सत्य' कहलाता है। ऐसा सत्य प्रिय तथा हितकर भी होना चाहिए। अप्रिय तथा अहित कर सत्य हो तो भी नहीं बोलना चाहिए क्योंकि इससे दूसरों को दुःख होता है जो हिंसा है, कपट और छल रहित व्यवहार ही सत्य व्यवहार है।

३. **अस्तेय**—'अस्तेय' का अर्थ है चोरी न करना। छल से, धोखे से, झूठ बोलकर, बेईमानी से किसी भी प्रकार दूसरे के स्वत्व का अपहरण करना चोरी है। जिस पर स्वयं का न्यायोचित

अधिकार नहीं है उसे लेना भी चोरी है। घूस लेना, सरकारी धन की चोरी करना, टैक्स की चोरी करना, झूठे बिल बनाकर सरकारी धन को नाजायज तरीके से प्राप्त करना, आदि भी चोरी है। इस प्रकार के धन को न प्राप्त करना ही 'अस्तेय' है। यह भी आचरण शुद्धि है।

४. **ब्रह्मचर्य**—मन वाणी तथा शरीर से मैथुन का परित्याग कर वीर्य रक्षा करना ही 'ब्रह्मचर्य' है। साधक का परित्याग कर वीर्य रक्षा करना ही 'ब्रह्मचर्य' है। साधक को इन सबसे वचना चाहिए। योग साधना में इसका विशेष महत्व है। यही ऊर्जा योग उपलब्धि में सहायक होती है।

५. **अपरिग्रह**—योगी को सात्विक जीवन व्यतीत करना चाहिए। आवश्यकता से अधिक धन एवं सामग्री का परिग्रह करने से मन कई प्रकार की उलझनों में पड़ जाता है जिससे वह स्थिर नहीं रह सकता। स्थिर हुए बिना योग साधना सम्भव नहीं है।

इन आचरणों के पालन से ही बाह्य शुद्धि होती है जिससे साधना में सहायता मिलती है।

सूत्र—३१

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः=(उक्त यम) जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित; **सार्वभौमाः**=सार्वभौम होने पर; **महाव्रतम्**=महाव्रत हो जाते हैं।

अनुवाद— *उक्त यम जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित सार्वभौम होने पर यह 'महाव्रत' हो जाते हैं।*

व्याख्या—उक्त यम जब किसी जाति विशेष, स्थान विशेष, समय विशेष तथा निमित्त विशेष की सीमा से बंधे होते हैं तो इन्हें 'व्रत' कहते

हैं जैसे मछली के अलावा अन्य जीवों की हिंसा नहीं करना, तीर्थो में हिंसा नहीं करना, अमावस्या तथा पूर्णिमा को हिंसा नहीं करना, नवरात्रि के अलावा हिंसा नहीं करना आदि। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के भी सामान्य व्रत लिए जाते हैं। इनसे भी चित्त शुद्धि होती है तथा मन को केन्द्रित करने में सहायता मिलती है किन्तु जब इन्हें सार्वभौम बना दिया जाता है कि किसी भी जाति की, किसी भी समय, किसी भी स्थान पर तथा किसी के भी निमित्त हिंसा नहीं करूँगा, न असत्य बोलूँगा, न परिग्रह करूँगा, न ब्रह्मचर्य भंग करूँगा तो ये ही 'महाव्रत' कहलाते हैं। इनका जीवन में पूर्ण परित्याग करना ही महाव्रत है। इनके पालन से मन का भटकाव कम होकर चित्त स्थिर होने लगता है तथा धीरे-धीरे वह वश में हो जाता है। यह बड़ी उपलब्धि है। मन को जब बाह्य आचरण से रोक दिया जाता है तो थोड़े समय वह भीतर ही भीतर घुटता रहता है किन्तु अन्त में शान्त हो जाता है। इससे संकल्प सिद्धि भी होती है जिससे आत्म बल बढ़ता है। विवेक ख्याति के लिए वे उपयोगी सिद्ध होते हैं।

सूत्र—३२

शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि=शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—(ये पाँच); **नियमाः**=नियम हैं।

अनुवाद— *शौच (पवित्रता), संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति ये पाँच 'नियम' हैं।*

व्याख्या—यमों के पालन से बाह्य शुद्धि होती है तो नियमों के पालन से भीतर की शुद्धि होती है। ये नियम हैं शरीर, वस्त्र, मकान की पवित्रता, न्यायपूर्वक धन प्राप्त करना, शुद्ध एवं सात्विक भोजन करना, सब के साथ पवित्र बर्ताव करना, विचारों को शुद्ध रखना, मैत्री भावना

को बढ़ाना, राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध आदि मलों का नाश करना यह भीतर की पवित्रता है। इसे 'शौच' कहा जाता है। दूसरा नियम है 'सन्तोष'। जिस अवस्था परिस्थिति में रहना पड़े उससे सन्तुष्ट रहना, कर्तव्य कर्म करते हुए जो कुछ प्राप्त हो जाए उसी में निर्वाह करना, वासनाओं को अधिक न बढ़ाना, उन्हें सीमित रखना, किसी प्रकार की कामना अथवा तृष्णा न करना, दूसरों की सम्पदा देखकर ईर्ष्या न करना ही 'सन्तोष' है। इनसे वृत्तियाँ शान्त होती हैं। इनके सिवाय तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान भी नियम है जिनका वर्णन इसी पाद के प्रथम सूत्र में किया जा चुका है।

सूत्र—३३

वितर्कवाधने प्रतिपक्ष भावनम्।

वितर्कबाधने=जब वितर्क (यम और नियमों के विरोधी हिंसादि के भाव) यम-नियम के पालन में बाधा पहुँचावें तब; **प्रतिपक्षभावनम्**=उनके प्रतिपक्षी विचारों का बारम्बार चिन्तन करना (चाहिये)।

अनुवाद— *जब वितर्क (यम, नियमों के विरोधी भाव) इन यम, नियमों के पालन में बाधा पहुँचावे तब उनके प्रतिपक्षी विचारों का चिन्तन करना चाहिए।*

व्याख्या—मन की प्रकृति ही ऐसी है कि वह किसी एक पर टिकता ही नहीं। उसमें निरन्तर विरोधी भाव उत्पन्न होते रहते हैं। मन्दिर जाने पर घर की बात याद आती है, घर में रहने पर वह बाहर भागना चाहता है, संसार में रहने पर धर्म की याद आती है, धार्मिक कार्य करते समय वह संसार में भागता है। मन की इस प्रकृति के कारण ही इस सूत्र में कहा गया है कि जब यम नियमों का पालन किया जाता है तो इनके विरोधी भाव हिंसा, चोरी, झूठ, धोखा, भोग आदि के भाव उत्पन्न होते हैं जिनसे

उनके पालन में बाधा पैदा होती है, अथवा संग दोष से या दूसरों के द्वारा सताये जाने पर भी ये भाव पैदा होते हैं, पूर्व संस्कारों तथा आदतों से भी ये पैदा होते हैं जिससे साधक का मन इनसे हटने लगता है। ऐसी परिस्थिति में उन्हें दबाने के लिए इन विचारों के दोष दर्शन रूप प्रतिपक्षी विचारों का चिन्तन करना चाहिए। इसे और अगले सूत्र में स्पष्ट किया गया है।

सूत्र—३४

वितर्का हिंसादयः कृतकारिताऽनुमोदिता लोभ क्रोध-मोह पूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखऽज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।

हिंसादयः=(यम और नियमों के विरोधी) हिंसा आदि भाव; **वितर्काः**=वितर्क कहलाते हैं; (वे तीन प्रकार के होते हैं—) **कृतकारितानुमोदिताः**=स्वयं किये हुए, दूसरों से करवाये हुए और अनुमोदन किये हुए; **लोभक्रोधमोहपूर्वकाः**=इनके कारण लोभ, क्रोध और मोह हैं; **मृदुमध्याधिमात्राः**=इनमें भी कोई छोटा, कोई मध्यम और कोई बहुत बड़ा होता है; **दुःखाज्ञानानन्तफलाः**=ये दुःख और अज्ञानरूप अनन्त फल देनेवाले हैं; **इति**=इस प्रकार (विचार करना ही); **प्रतिपक्षभावनम्**=प्रतिपक्ष की भावना है।

अनुवाद— *यम और नियमों के विरोधी हिंसा आदि भाव 'वितर्क' कहलाते हैं—ये तीन प्रकार के हैं। १. स्वयं किये हुए २. दूसरों से करवाये हुए और ३. अन्यों के किये हुए का समर्थन करना। इनके कारण लोभ, क्रोध और मोह हैं। इनमें भी छोटा, मध्यम और अधिमात्रा में भेद वाले हैं। ये दुःख और अज्ञान रूप अनन्त फल देने वाले हैं। इस प्रकार विचार करना ही 'प्रतिपक्ष की भावना' है।*

व्याख्या—यम नियमों के पालन में यदि उनके विरोधी भाव (हिंसा, चोरी आदि) पैदा हो तो ऐसे भावों को वितर्क कहते हैं। ये

वितर्क भी तीन प्रकार के होते हैं। १. स्वयं किये हुए २. दूसरों से करवाये हुए तथा ३. दूसरों को करते देखकर उनका अनुमोदन किये हुए। ये तीनों प्रकार के वितर्क यम नियमों के विरोधी हैं। ये प्रतिपक्षी विचार लोभ, मोह, अहंकार, स्वार्थ, क्रोध आदि के कारण आते हैं। इनकी भी मात्रा की तीव्रता के अनुसार तीन भेद होते हैं। ये कभी छोटे रूप में, कभी मध्यम रूप में तथा कभी तीव्र वेग के साथ आते हैं जिससे साधक अपने ध्येय से विचलित हो जाता है। उस समय साधक को इन पर विचार करना चाहिए कि ये मेरी साधना में बाधा उपस्थित करने आये हैं, ये दुःख और अज्ञान रूप अनन्त फल देने वाले हैं, इनका परिणाम कई जन्मों तक मुझे भोगना पड़ेगा, ये मुझे नरक में ले जा सकते हैं, मेरे कई जन्म इनसे बिगड़ सकते हें आदि। ऐसे प्रतिपक्ष की भावना करके इनसे दूर रहकर नियमपूर्वक अपने यम नियमों का पालन करता रहे। यही प्रतिपक्ष की भावना करना है।

सूत्र—३५

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

अहिंसाप्रतिष्ठायाम्=अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर; **तत्सन्निधौ**=उस योगी के निकट; **वैरत्यागः**=सब प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं।

अनुवाद— *'अहिंसा' की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के समीप सब प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं।*

व्याख्या—सूत्र ३५ से ४५ तक इन यम नियमों की सिद्धि का फल बताया गया है कि इनके प्रत्येक अंग के सिद्ध होने पर साधक में विशेष योग्यताएँ एवं क्षमताएँ आ जाती हैं। ये योग्यताएँ इनकी कसौटी भी हैं कि इनका अनुष्ठान ठीक से चल रहा है। ये भी सिद्धियाँ ही हैं जो आरम्भ से ही आने लगती हैं किन्तु साधक को इनका अहंकार वश

उपयोग नहीं करना चाहिए वरना ये सिद्धियाँ भी समाप्त हो जायेंगी एवं आगे साधना की प्रगति रुक जायगी।

इस सूत्र में बताया गया है कि जिस योगी का 'अहिंसा भाव' दृढ़ हो जाता है उसके भीतर से निकली अहिंसा की विचार तरंगों से समीप का सारा वातावरण अहिंसामय हो जाता है। इनके समीप रहने वाले मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी इन विचार तरंगों से प्रभावित होकर अपना हिंसा भाव छोड़ देते हैं। वैर, ईर्ष्या, द्वेष आदि की उनकी भावना ही समाप्त हो जाती है। योगियों का यही चमत्कारिक प्रभाव आश्रमों में देखा जाता है जिससे वहाँ पर व्यक्ति को शान्ति प्राप्त होती है। कहते हैं इसी कारण से ऋषियों के आश्रमों में सिंह और गाय, मोर और सर्प एक साथ अपना स्वाभाविक वैर त्याग कर रहते थे। यही अहिंसा भाव की प्रतिष्ठा का द्योतक है। विचारों से आसपास का वातावरण भी प्रभावित होता है इसके वैज्ञानिकों ने भी प्रयोग किये हैं।

सूत्र—३६

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाऽऽश्रयत्वम्।

सत्यप्रतिष्ठायाम्=सत्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर (योगी में); **क्रियाफलाश्रयत्वम्**=क्रियाफल के आश्रय का भाव (आ जाता है)।

अनुवाद— *'सत्य' की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी में क्रिया फल के आश्रय का भाव आ जाता है वह जो कहता है वह हो जाता है।*

व्याख्या—इसी प्रकार योगी का जब 'सत्य' भाव दृढ़ हो जाता है तो उसमें क्रिया फल के आश्रय का भाव आ जाता है। सत्य बोलने तथा उसके पालन में बड़ी शक्ति निहित है इसीलिए अध्यात्म में सत्य पर काफी जोर दिया है। सामान्य व्यक्ति अपने कर्मो का फल अवश्य भोगता है किन्तु सत्यनिष्ठ योगी यदि उसे कोई वरदान, शाप या आशीर्वाद

दे देता है तो वह इन सब कर्म फलों का उल्लंघन करके सत्य हो जाता है। पुराणों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि ऋषि के शाप अथवा वरदान का फल देवताओं तक ने भुगता है। ऐसे व्यक्ति की वाचा सिद्धि हो जाती है। उसका वचन निष्फल नहीं जाता।

सूत्र—३७

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

अस्तेयप्रतिष्ठायाम्=चोरी के अभाव की दृढ़ स्थिति हो जाने पर (उस योगी के सामने); **सर्वरत्नोपस्थानम्**=सब प्रकार के रत्न प्रकट हो जाते हैं।

अनुवाद— 'चोरी के अभाव' की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी को सब रत्नों की प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या—जब 'अस्तेय' (चोरी न करना) की स्थिति दृढ़ हो जाती है तो संसार की सभी उत्तम वस्तुएँ उसके लिए उपलब्ध हो जाती हैं। ईमानदार व्यक्ति का सभी साथ देते हैं तथा उसके लिए सभी प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध करा देते हैं जबकि चोरों और बेईमानों के प्रति किसी की भी महानुभूति नहीं होती जिससे उसके मुसीबत में पड़ने पर लोग सहायता न करके उल्टे प्रसन्न होते हैं कि वह अपने कर्मो का फल भोग रहा है। अध्यात्म का यह विश्वास है कि सत्य और ईमानदारी का जीवन जीने वालों को ईश्वरीय सहायता अज्ञात रूप से अवश्य प्राप्त होती है किन्तु ऐसे व्यक्ति की एक परीक्षा की घड़ी भी होती है जिससे सफलतापूर्वक गुजर जाने पर ही उक्त सहायता मिलती है।

सूत्र—३८

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्=ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर;

वीर्यलाभः=सामर्थ्य का लाभ होता है।

अनुवाद— *'ब्रह्मचर्य' की दृढ़ स्थिति हो जाने पर सामर्थ्य का लाभ होता है।*

व्याख्या—जब योगी की 'ब्रह्मचर्य' की स्थिति दृढ़ हो जाती है तो उसके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि में अपूर्व साहस एवं बल प्राप्त हो जाता है। उसकी सभी प्रकार की शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक कार्य क्षमताओं में वृद्धि हो जाती है जो सामान्य जनों में नहीं होती। उसके उत्साह और आत्म बल में भी वृद्धि हो जाती है जिससे वह असामान्य कार्य कर सकता है, उसके शारीरिक तेज में भी वृद्धि हो जाती है तथा उसे दीर्घायु लाभ भी प्राप्त होता है। अध्यात्म में इसीलिए ब्रह्मचर्य पर विशेष बल दिया है। योग की सिद्धि में इसका सर्वाधिक महत्व है।

सूत्र—३९

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासंबोधः।

अपरिग्रस्थैर्ये=अपरिग्रह की स्थिति हो जाने पर; **जन्मकथान्तासंबोधः**=पूर्वजन्म कैसे हुए थे? इस बात का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है।

अनुवाद— *'अपरिग्रह' की स्थिति हो जाने पर 'पूर्व' जन्म कैसे हुए थे, इसका ज्ञान हो जाता है।*

व्याख्या—यदि योगी की 'अपरिग्रह' की स्थिति दृढ़ हो जाती है तो उसे पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है कि उसके पूर्व जन्म किस योनि में तथा कहाँ हुए थे तथा जन्म क्यों होता है। अपरिग्रह का अर्थ है इतना सादा जीवन जिससे वह भोजन, वस्त्र एवं निवास सम्बन्धी न्यूनतम आवश्यकताएँ ही पूरी करता है। अनावश्यक वस्तुओं तथा धन का संग्रह नहीं करता। परिग्रह जितना ही कम होगा उतनी ही वह उनकी संभाल

की चिन्ताओं से मुक्त रहेगा तथा उसे किसी प्रकार का भय, अहंकार आदि भी नहीं होगा। वासना के कारण ही चित्त वृत्तियाँ बाहर की ओर भागती हैं अतः इनको भागने से रोकने के लिए अपरिग्रह महत्त्वपूर्ण है। इससे साधक को भीतर का अनुभव होना आरम्भ हो जाता है। पूर्व जन्मों का ज्ञान भीतर छिपी स्मृतियाँ ही है जो पुनः प्रत्यक्ष अनुभव में आ जाती हैं। ऐसा ज्ञान भी संसार से वैराग्य उत्पन्न करने वाला है कि यह सब कार्य जो इस जन्म में मैं कर रहा हूँ वह पूर्व जन्मों में अनेक बार कर चुका हूँ। वही पैदा होना, पढ़ना, शादी करना, बच्चे पैदा करना, बुढ़ापे का दुःख सहना और मर जाना आदि। हर जन्म में इसी एक दो से गिनना तथा गिनती पूरी होने से पूर्व ही मर जाना। क्या यही जीवन का सार है ? ऐसी भावना आने पर संसार से वैराग्य हो जाता है जिससे उसकी ध्यान की गति बढ़ जाती है तथा आगे का मार्ग खुल जाता है।

उपर्युक्त पाँच सूत्रों में पाँचों यमों की सिद्धि के फल बताये गये हैं। यदि निष्काम भाव से इन सबका पालन किया जाय तो इनसे कैवल्य प्राप्ति में भी सहायता मिलती है।

सूत्र—४०

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

शौचात्=शौच के पालन से; **स्वाङ्गजुगुप्सा**=अपने अंगों में वैराग्य (और) **परैः असंसर्गः**=दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा (उत्पन्न होती है)।

अनुवाद— *'शौच' (पवित्रता) के पालन से अपने अंगों से वैराग्य (घृणा) और दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा होती है।*

व्याख्या—सूत्र ४० से ४५ तक 'नियमों' के सिद्ध होने का फल बतलाया गया है। जितना इनका पालन किया जाता है। उसके अनुसार फल मिलता जाता है।

इन नियमों में पहला नियम 'शौच' है यानि 'पवित्रता'। सूत्र ३२ में बताया गया है कि शरीर, मकान, वस्त्र, भोजन, न्यायपूर्वक धन प्राप्त करना, पवित्र व्यवहार करना, विचारों की पवित्रता, मैत्री भाव बढ़ाना, राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध आदि मलों का नाश करना यह भीतर की पवित्रता है। इसके निरन्तर पालन करते रहने से साधक को अपने अंगों से ही वैराग्य अथवा घृणा होने लगती है, इनसे आसक्ति छूट जाती है तथा दूसरों के संग में भी आसक्ति नहीं होती। इसके परिणाम स्वरूप उसकी योग में गति बढ़ जाती है। साधक के लिए सभी प्रकार के सांसारिक विषयों से आसक्ति का हट जाना शुभ लक्षण है।

सूत्र—४१

सत्त्व शुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्म दर्शन योग्यत्वानि च।

च=इसके सिवा; **सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्म-दर्शनयोग्यत्वानि**=अन्तःकरण की शुद्धि, मन में प्रसन्नता; चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता— ये पाँचों भी होते हैं।

अनुवाद— *इसके सिवाय 'शौच' से अन्तःकरण की शुद्धि, मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना और आत्म दर्शन की योग्यता भी होती है।*

व्याख्या—इसके सिवाय भी पवित्रता के नियम के पालन से अन्तःकरण की शुद्धि होती है जिससे वह निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। अच्छे कार्यों से मन सदा प्रसन्न रहता है। ध्यान के समय चित्त की एकाग्रता शीघ्र होती है तथा इन्द्रियों को अपने वश में रखने की क्षमता आ जाती है। इसके पालन से साधक में आत्म साक्षात्कार की योग्यता भी आती है क्योंकि इस विधायक की साधना से दोष अपने आप दूर होते जाते हैं। यह आन्तरिक शुद्धि 'शौच' से होती है।

सूत्र—४२

संतोषादनुत्तमसुखलाभः।

संतोषात्=संतोष से; **अनुत्तमसुखलाभः**=जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है—ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है।

अनुवाद— *'संतोष' से उत्तमोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।*

व्याख्या—चाह मात्र भिखमंगापन है। जिसकी जितनी अधिक चाह होती है वह उतना ही अधिक भिखमंगा है। गरीब वह नहीं है जिसके पास कुछ नहीं है बल्कि वह है जो निरन्तर अधिक की चाह करता है। यह चाह ही मनुष्य के अनेक दुःखों का कारण है। ज्यों-ज्यों चाह, तृष्णा, वासना बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मनुष्य अधिक दुःखी होता जाता है तथा इस चाह का कोई अन्त भी नहीं है। मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत कम हैं। इन्हें आसानी से तथा थोड़े परिश्रम से पूरा किया जा सकता है किन्तु मनुष्य सभी कुछ दूसरों का शोषण करके भी अपने ही लिए भरना चाहता है जिससे उसको अनेक दुःख झेलने पड़ते हैं। इसलिए अध्यात्म में सन्तोष को ही परम सुख कहा गया है। जो साधक अपनी सीमित आवश्यकताओं को पूरा करके ही सन्तोष कर लेता है तथा जो उसे मिला है अथवा मिल रहा है उसमें ही सन्तोष कर लेता है उसे उत्तमोत्तम सुख की प्राप्ति होती है सर्व दुःखों का कारण वासना, तृष्णा आदि के नष्ट हो जाने से अध्यात्म में उसकी गति बढ़ जाती है जिससे अन्त में उसे योग की सिद्धि होती है।

सूत्र—४३

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

तपसः=तप के प्रभाव से; **अशुद्धिक्षयात्**=जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब; **कायेन्द्रियसिद्धिः**=शरीर और इन्द्रियों की

सिद्धि हो जाती है।

अनुवाद— 'तप' से अशुद्धि का नाश हो जाने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है (ये वशवर्तिनी हो जाती हैं)।

व्याख्या—शरीर और इन्द्रियाँ मन के अनुसार कार्य करती हैं। मन चूँकि चंचल है इसलिए उसकी झलक शरीर तथा इन्द्रियों में देखी जा सकती है। यदि मन स्थिर हो जाता है तो ये भी स्थिर और शांत हो जाते हैं। इसलिए किसी भी प्रकार की जब साधना की जाती है तो मन उसकी प्रतिक्रिया करता है इसी के कारण शरीर तथा इन्द्रियों को कष्ट होता है। इन कष्टों को सहन करना ही 'तप' है। जान बूझकर शरीर एवं इन्द्रियों को कष्ट देना और सताना तप नहीं है। तप साधन अवस्था में स्वाभाविक रूप से होने वाली घटना है जो मन की प्रतिक्रिया के कारण होती है। यदि इस प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर साधना को न छोड़ा जाए तथा इन कष्टों को धैयपूर्वक सहन कर लिया जाये तो इससे शरीर तथा इन्द्रियों के मल का नाश हो जाता है जिससे योगी का शरीर स्वस्थ, स्वच्छ एवं हल्का हो जाता है। योग साधना से शरीर एवं मन की सफाई होती है जिससे भीतर का सारा मल बाहर निकलता है। अतः इन्हें धैर्य पूर्वक सहन करना ही तप है। इनके सहन करने से शरीर और इन्द्रियाँ पूर्णतया अपने वश में आ जाती हैं। इनके वश में आने से ही अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

सूत्र—४४

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

स्वाध्यायातत्=स्वाध्याय से; **इष्टदेवतासम्प्रयोगः**=इष्टदेवता की भलीभाँति प्राप्ति (साक्षात्कार) हो जाती है।

अनुवाद— 'स्वाध्याय' से इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।

व्याख्या—'स्वाध्याय' का अर्थ है शास्त्राभ्यास, 'स्वयं का अध्ययन,

मन्त्र, जप आदि द्वारा अपने इष्ट देवता का ध्यान करना आदि। इसके निरन्तर अभ्यास से योगी को अपने इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है। ये देवता ही उसे मुक्ति का मार्ग दिखाने में सहायक होते हैं। मुक्ति का मार्ग तो स्वयं को ही तय करना होता है किन्तु गुरु, इष्ट देवता आदि इनके बीच आई बाधाओं को दूर करने में सहायता देते हैं तथा इष्ट दर्शन से योगी का मनोबल भी बढ़ता है। हर साधक चाहे वह भक्त हो या योगी, आरम्भ में किसी इष्ट देवता का सहारा लेकर चलता है। बिना किसी सहारे के चलने वाला भटकता ही है। तुलसी ने हनुमान की सहायता से राम के दर्शन किये, राम-कृष्ण ने काली का सहारा लिया आदि। यह अनिवार्य नहीं तो आवश्यक अवश्य है।

सूत्र—४५

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

ईश्वरप्रणिधानात्=ईश्वर-प्रणिधान से; **समाधिसिद्धिः**=समाधि की सिद्धि हो जाती है।

अनुवाद— *'ईश्वर प्रणिधान' से समाधि की सिद्धि हो जाती है।*

व्याख्या—'ईश्वर प्रणिधान' पाँचवाँ नियम है। जो ईश्वर शरणागति स्वीकार कर लेता है, उसके सारे विघ्नों का दायित्व ईश्वर अपने ऊपर ले लेता है। सूत्र १. में इसकी व्याख्या की गई है। ईश्वर की शरण में अपने को छोड़कर जो निष्काम भाव से, फलेच्छा का त्याग कर साधना करता है उसको शीघ्र ही समाधि लाभ होता है। समाधि अवस्था में ही वह अपनी चित्त वृत्तियों के बीज को समाप्त कर निर्बीज समाधि को प्राप्त होता हैं जो कैवल्य की अवस्था है। इन यम, नियमों में ईश्वर शरणागति का सर्वाधिक महत्व है।

सूत्र—४६

स्थिरसुखमासनम्।

स्थिरसुखम्=निश्चल (हिलन-चलन से रहित) सुखपूर्वक बैठने का नाम; **आसनम्**='आसन' है।

अनुवाद— स्थिर और सुखपूर्वक जिसमें बैठा जा सके वह 'आसन' है।

व्याख्या—योग में चित्त की वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। ये वृत्तियाँ मन के माध्यम से कार्य करती हैं। जिसकी वृत्तियाँ जितनी अधिक चंचल होंगी, मन उतना ही चंचल होगा। मन की चंचलता से ही विचार उठते हैं तथा इन विचारों का प्रभाव शरीर एवं इन्द्रियों पर पड़ता है इसलिए इनकी भी हलचल जाने अनजाने होती रहती है। बैठे-बैठे ही पाँव हिलाना, हाथों से इशारे करना, आँखों की पुतलियों का निरन्तर चलते रहना, मुँह से कुछ बड़बड़ाना, होठों का हिलना आदि लक्षणों से ज्ञात होता है कि उसके मन में विचार चल रहे हैं। ये विचार नींद में भी चलते रहते हैं। इनको रोकने का उपाय सर्वप्रथम शरीर को स्थिर करना है। यदि अधिक समय तक शरीर को बिना हिलाये डुलाये स्थिर अवस्था में, पत्थर की मूर्ति के समान स्थिर रखा जा सके तो उसके विचारों का प्रवाह रुक जाता है। इसलिये योगी को जप, ध्यान आदि सिद्धि के लिए काफी समय शरीर को स्थिर करके बैठना पड़ता किन्तु अभ्यास न होने से कभी पाँवों में दर्द होने लगता है, कभी सूजन आ जाती है आदि। इसलिये इस सूत्र में कहा गया है कि आसन चाहे किसी भी प्रकार का हो किन्तु जिसमें लम्बे समय तक स्थिर अवस्था में एवं सुखपूर्वक बैठा जा सके वही 'आसन' श्रेष्ठ है। सामान्यतया तीन आसन श्रेठ माने जाते हैं—सुखासन, सिद्धासन तथा पद्मासन। जिसको जो सुविधाजनक हो उसी का वह प्रयोग करे। हठयोग में कई आसन दिये गए हैं वे शारीरिक

स्वास्थ्य के लिए उपयोगी हैं किन्तु चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए आवश्यक नहीं है। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रीढ़ की हड्डी व गर्दन सीधी रहे ताकि ऊर्जा प्रवाह में बाधा न हो।

सूत्र—४७

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्=(उक्त आसन) प्रयत्न की शिथिलता से और अनन्त (परमात्मा) में मन लगाने से (सिद्ध होता है)।

अनुवाद—*उक्त आसन प्रयत्न की शिथिलता से और अनंत (परमात्मा) में मन लगाने से सिद्ध होता है।*

व्याख्या—किसी भी आसन से यदि साधक लम्बे समय तक सुखपूर्वक, बिना शरीर को हिलाये डुलाये बैठ सकता है तो उसे आसन सिद्ध होना कहते हैं। इसकी सिद्धि के लिये आवश्यक है कि मन में जो निरन्तर विचारों का प्रवाह चलता रहता है उसे रोकना। यदि प्रयत्नपूर्वक, जबरदस्ती करके शरीर को स्थिर करने की चेष्टा की गई तो थोड़े समय चाहे वह स्थिर हो जाए। किन्तु अनजाने में ही विचारों के प्रवाहों के कारण उसमें फिर हलचल आरम्भ हो जाती है। इसलिये इस सूत्र में कहा गया है कि साधक अपनी ओर से उसे स्थिर करने के प्रयत्न छोड़ दे, शरीर को शिथिल हो जाने दे, उसे ढीला छोड़ दे तथा विचारों को शान्त करने के लिए अपना सारा ध्यान उस अनन्त शक्ति अर्थात परमात्मा में लगा ले। किसी एक स्थान पर ध्यान केन्द्रित हो जाने तथा निरन्तर उसमें लगे रहने से विचार बन्द हो जाएँगे जिससे शरोर की चंचलता समाप्त हो कर वह स्थिर हो जायगा तथा लम्बे समय तक स्थिर रह सकेगा। यही आसन सिद्धि है।

सूत्र—४८

ततो द्वन्द्वानभिघातः।

ततः=उस (आसन की सिद्धि) से; **द्वन्द्वानभिघातः**=(शीत-उष्ण आदि) द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता।

अनुवाद— *उस आसन की सिद्धि से सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, हर्ष, विषाद आदि द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता।*

व्याख्या—इस सूत्र में आसन सिद्धि का फल बताया गया है कि जो योगी उपरोक्त अवस्था में अपने आसन की सिद्धि कर लेता है अर्थात् जो स्थिर अवस्था में अपने सम्पूर्ण विचारों को रोक कर किसी एक बिन्दु अनन्त में अपने ध्यान को स्थिर कर लेता है तो उसके शरीर पर पड़ने वाला सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वों का आघात समाप्त हो जाता है। किसी एक बिन्दु पर यदि चेतना केन्द्रित हो जाती है तो शरीर पर मक्खी, मच्छर आदि के काटने का ध्यान भी नहीं रहता, न छोटे-मोटे आघात का ही उसे अनुभव होता है। इसकी उच्च स्थिति में यदि शरीर के किसी भाग की शल्य-क्रिया भी की जाये तो उसे पता नहीं चलता। यही आसन सिद्धि का फल है। इससे चित्त की चंचलता दूर होती है एवं साधना में विघ्न नहीं पड़ता।

सूत्र—४९

तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायाम्ः।

तस्मिन् सति=उस आसन की सिद्धि होने के बाद; **श्वासप्रश्वासयोः**=श्वास और प्रश्वास की; **गतिविच्छेहः**=गति का रुक जाना; **प्राणायामः**=' प्राणायाम ' है।

अनुवाद— *उस आसन की सिद्धि होने पर श्वास प्रश्वास की गति का रुक जाना ' प्राणायाम ' है।*

व्याख्या—यम, नियम और आसन के बाद योग का चौथा अंग है 'प्राणायाम'। सामान्यतया श्वास-प्रश्वासकी गति को रोक देना ही प्राणायाम माना जाता है अर्थात स्थिर अवस्था में बैठकर श्वास-प्रश्वास की गति को नियन्त्रित करने के लिए पूरक कुम्भक तथा रेचक किया जाता है उसे 'प्राणायाम' कहते हैं। किन्तु इस सूत्र में पतंजलि कहते हैं आसन के सिद्ध होने पर शरीर ही निष्क्रिय नहीं होता बल्कि इसका प्रभाव मन, इन्द्रियों एवं श्वास-प्रश्वास पर भी पड़ता है। जब शारीरिक चेतना किसी ध्येय पदार्थ अनन्त आदि में पूर्णतया केन्द्रित हो जाती है तभी आसन सिद्धि होती है तथा इसके फलस्वरूप श्वास-प्रश्वास की गति अपने आप रुक जाती है। इसी को 'प्राणायाम' कहते हैं। शरीर के साथ जबरदस्ती करके श्वांस को रोके रखना प्राणायाम नहीं है। अभ्यास से ऐसा करना सम्भव है किन्तु योग से उसका कोई सम्वन्ध नहीं है। चेष्टापूर्वक श्वांस की गति को नियन्त्रित करने तथा पूरक, कुम्भक, रेचक करने, लम्बी गहरी श्वांस लेने आदि क्रियाओं से रक्तशुद्धि होकर शरीर की शुद्धि तो होती ही है, मन का सम्वन्ध प्राणों के साथ होने से वह भी शान्त होता है। अत: उनसे भी अवश्य ही लाभ होते हैं। किन्तु ध्यानावस्था में शरीर तथा मन के निश्चेष्ट होने पर जब श्वांस-प्रश्वांस की गति अपने आप रुक जाती है तो यही सही अर्थों में प्राणायाम है। इसलिये प्राणायाम की सिद्धि से पूर्व आसन को सिद्ध करना आवश्यक है।

सूत्र—५०

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः=(उक्त प्राणायाम) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति (ऐसे तीन प्रकार का) होता है, (तथा वह); **देशकालसंख्याभिः**=देश, काल और संख्या द्वारा; **परिदृष्टः**=भलीभाँति देखा जाता हुआ; **दीर्घसूक्ष्मः**=लम्बा और हल्का

(होता जाता है)।

अनुवाद— बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भ वृत्ति वाला प्राणायाम देश, काल और संख्या से देखा गया लम्बा और हल्का होता है।

व्याख्या—इस सूत्र में तीन प्रकार के प्राणायामों का वर्णन किया गया है। प्राणायाम अपने आप में पूर्ण विज्ञान है। यदि कोई साधक अन्य किसी साधन को न करके केवल प्राणायाम का ही सहारा लेता है तो उसे तत्व बोध हो जाता है तथा इस तत्व बोध से सृष्टि के रहस्यों का ज्ञान हो जाता है जो कैवल्य प्राप्ति में सहायक होता है। यहाँ संक्षेप में इसका वर्णन किया गया है कि श्वांस-प्रश्वांस को रोकने की क्रिया का नाम प्राणायाम नहीं है बल्कि जब वह स्वाभाविक रूप से अपने आप रूक जाता है तो उसी को प्राणायाम कहते हैं। इसलिये प्राणायाम क्रिया नहीं उपलब्धि का नाम है। किन्तु जो क्रिया द्वारा अथवा अभ्यास द्वारा इसकी उपलब्धि चाहते हैं वे इसका तीन प्रकार से अभ्यास करते हैं। वे गिनती द्वारा उसमें लगे समय को निरन्तर देखते रहते हैं कि पूरक, कुम्भक तथा रेचक में स्वाभाविक रूप से कितनी गिनती का समय लगता है। फिर धीरे-धीरे सात-सात दिन बाद वे कुम्भक की संख्या को बढ़ाते हैं। अर्थात अधिक समय तक रोकने का अभ्यास करते हैं। लम्बे समय तक साधना किये जाने पर अपने आप कुम्भक हो जाता है यानि श्वांस रुक जाती है यह अभ्यास सिद्ध प्राणायाम है। श्वांस को रोकने के अनुसार यह अभ्यास सिद्ध प्राणायाम तीन प्रकार का होता है—

१. **बाह्य वृत्ति**—श्वांस को शरीर से बाहर निकालकर रोकना। इसे 'बाह्य कुम्भक' भी कहते हैं। बाहर जितने समय उसे सुख पूर्वक रोका जा सके रोककर उसकी परीक्षा करना कि वह कितने समय तक ठहरा है तथा कहाँ ठहरा है? संख्या द्वारा इसके समय का अनुमान करना कि कितनी गिनती गिनने तक ठहरा रहा। फिर धीरे-धीरे इसे बढ़ाने का अभ्यास करना

त्याग कर देने से अपने-आप होनेवाला; **चतुर्थः**=चौथा प्राणायाम है।

अनुवाद— *बाहर और भीतर के विषयों का त्याग कर देने से अपने आप होने वाला चौथा प्राणायाम है।*

व्याख्या—ऊपर बताया गया है कि श्वांस का रूक जाना ही प्राणायाम है। सूत्र ५० में तीन प्रकार से इसे रोकने का अभ्यास बताया गया है किन्तु इस सूत्र में बताया गया है कि एक चौथे प्रकार का प्राणायाम भी है जिसमें श्वांस बिना किसी प्रयास के अपने आप रुक जाती है। जब साधक बाहर तथा भीतर के विषयों के चिन्तन का सर्वथा त्याग कर देता है कि श्वांस भीतर जा रही है या बाहर निकल रही है या ठहरी हुई है इसके चिन्तन को ही छोड़कर जब उसका ध्यान केवल इष्ट चिन्तन में लग जाता है तो श्वांस की गति बिना किसी प्रयास के अपने आप रूक जाती है। यह स्वाभाविक रूप से घटित होने वाला प्राणायाम है। इसलिए इसे चौथी श्रेणी का माना गया है। मन की चंचलता शान्त होने से अपने आप इन प्राणों की गति रुक जाती है जो स्वाभाविक है। इससे समझ लेना चाहिए कि प्राणायाम सिद्ध हो गया है। पहले बताये गए तीन प्रकार के प्राणायाम अभ्यास से सिद्ध होते हैं।

सूत्र—५२

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

ततः=उस (प्राणायाम के अभ्यास) से; **प्रकाशावरणम्**=प्रकाश (ज्ञान) का आवरण; **क्षीयते**=क्षीण हो जाता है।

अनुवाद— *उससे (प्राणायाम के अभ्यास से) ज्ञान रूपी प्रकाश को ढकने वाला अज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है।*

व्याख्या—इस सूत्र में प्राणायाम की सिद्धि का फल बताया गया है कि जब योगी को प्राणायाम सिद्ध हो जाता है तो ज्ञान के प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है। संचित संस्कारों के कारण जो अविद्या जनित

आवरण उस ज्ञान रूपी प्रकाश को घेरे हुए हैं जिससे व्यक्ति वासना, तृष्णा, अहंकार आदि के कारण उस ज्ञान प्रकाश का लाभ नहीं ले पा रहा है उस सारे अज्ञान रूपी आवरण का क्षय इस प्राणायाम से हो जाता है जिससे उसे समाधि लाभ होता है तथा ज्ञान का मार्ग खुल जाता है।

प्रकृति के जो तीन गुण सत्व, रज व तम उस आत्म चेतना को आच्छादित किये हुए हैं। मनुष्य इनको सत्य मानकर इन्हीं के अनुसार अपने जीवन का निर्धारण करता है जो उसका अज्ञान मात्र है। इस अज्ञान के हटते ही उसे अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है जिससे उसकी अज्ञान जनित सभी भ्रान्तियों का निराकरण होकर वह अपनी चेतना में स्थित हो जाता है। यह कार्य प्राणायाम से सिद्ध हो जाता है।

सूत्र—५३

धारणासु च योग्यता मनसः।

च=तथा; **धारणासु**=धारणाओं में; **मनसः**=मन की; **योग्यता**=योग्यता (भी हो जाती है)।

अनुवाद— *प्राणायाम की सिद्धि से मन में धारणा की योग्यता आ जाती है।*

व्याख्या—इस सूत्र में प्राणायाम की सिद्धि का दूसरा फल बताया गया है कि जब अनायास ही श्वांस-प्रश्वांस की गति धीमी होकर सर्वथा रुक जाती है तो मन में धारणा की योग्यता आ जाती है। साधक जहाँ चाहे अपने ध्यान को लगा सकता है। यह मन के स्थिर होने का प्रमाण है। पहले मन अपने कर्म संस्कारों के कारण बिना चाहे ही विषयों की ओर आनन्द समझकर भागता था किन्तु इस स्थिति में उस पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है जिससे उसे जहाँ चाहे वहाँ लगाया जा सकता है। घोड़े की लगाम मजबूत होने पर सवार उसे अपनी इच्छानुसार चला सकता है किन्तु लगाम ढीली होने पर सवार को घोड़े की इच्छानुसार

चलना पड़ता है। ऐसा ही मन है। अपनी इच्छानुसार चलाकर मन मनुष्य को वासना के कारण दुःखों में डाल सकता है किन्तु मनुष्य आदि उसे अपनी इच्छा से चला सके तो वही मन उसे मुक्ति की ओर भी ले जा सकता है। धारणा का अर्थ मन को एक जगह ठहराना है जिससे वह इधर-उधर भागने से रुक जाता है।

सूत्र—५४

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

स्वविषयासम्प्रयोगे=अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियों का; **चित्तस्यस्वरूपानुकारः इव**=जो चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना है, वह; **प्रत्याहारः**=प्रत्याहार है।

अनुवाद— *जब इन्द्रियों का शब्दादि स्व-विषयों से सम्बन्ध नहीं रहता तब उनका चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना 'प्रत्याहार' है।*

व्याख्या—योग का पाँचवाँ अंग 'प्रत्याहार' है। चित्त की वृत्तियों का क्रियान्वयन शरीर तथा इन्द्रियों के माध्यम से होता है। इस क्रियान्विति का कारण मन द्वारा इन विषयों का चिंतन किया जाना है। प्राणायाम के सिद्ध होने पर मन स्थिर हो जाता है जिससे वह विषयों का चिन्तन छोड़कर अपने इष्ट के ध्यान में लग जाता है। चिन्तन के छूटने से इन्द्रियों की बाह्य-वृत्तियाँ अपने आप छूट जाती हैं तथा ये चित्त में विलीन हो जाती हैं। जिस प्रकार कछुआ भय उपस्थित होने पर अपने अंग भीतर छिपा लेता है उसी प्रकार ये वृत्तियाँ सिकुड़ कर मन में विलीन हो जाती हैं। ये नष्ट तो नहीं होती किन्तु बाह्य स्वरूप लुप्त हो जाता है। इनका विषयों की ओर भागना बन्द हो जाता है। यही 'प्रत्याहार' है।

'प्रत्याहार' का अर्थ है 'नॉन एटेचमेण्ट'। सांसारिक विषयों के प्रति मन का जो आकर्षण है जिसमें वह सुख का अनुभव करता है,

उसके प्रति उसकी आसक्ति का त्याग हो जाता है। वह अब इनके मोह को छोड़कर आत्मज्ञान की ओर ही आकर्षित होता है। मन की इसी स्थिति को 'प्रत्याहार' कहा जाता है। यह साधना का विषय नहीं है बल्कि मानसिक परिवर्तन से अपने आप हो जाता है।

सूत्र—५५

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्।

ततः=उस (प्रत्याहार) से; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियों की; **परमा**=परम; **वश्यता**=वश्यता (हो जाती है)।

अनुवाद— *इस प्रत्याहार से इन्द्रियाँ पूर्ण वशवर्तिनी होती हैं।*

व्याख्या—इस सूत्र में 'प्रत्याहार' का फल बतलाया गया है कि प्रत्याहार सिद्ध होने से पूर्व इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने विषयों की ओर ही भागती थीं। उन पर किसी का भी नियंत्रण नहीं था। अब इसके सिद्ध होने पर वे पूर्ण नियंत्रण में आ जाती हैं। अब उन्हें साधक अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ लगा सकता है। इस स्थिति में उसे अच्छे तथा बुरे किसी भी काम में लगाया जा सकता है। बुरे कार्यों में लगाने पर उसके अनेक दुष्परिणाम होते हैं। इससे बचने के लिए ही साधक को यम, नियमों, आसनों एवं प्राणायाम का पहले अभ्यास कराया जाता है जिससे चित्त निर्मल होकर बुरे कार्यों से हट जाता है। प्रत्याहार से मन अधिक शक्तिशाली हो जाता है जिसका दुरुपयोग भी किया जा सकता है। दुष्ट के हाथों ऐसी शक्ति आ जाने से उसके दुरुपयोग की संभावना बढ़ जाती है। यम नियमों के पालन से यह दुष्टता समाप्त की जाती है तब इस शक्ति का प्राप्त करना उपयोगी सिद्ध होगा। इसलिए योग साधना क्रम से ही करनी चाहिए। प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर इन्द्रिय विजय के लिए अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती।

॥ इति साधन पादः॥

सूत्र—१

देशवन्धश्चित्तस्य धारणा।

चित्तस्य देशबन्धः=(बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी) किसी एक देश में चित्त को ठहराना; **धारणा**=धारणा है।

अनुवाद— *चित्त का किसी एक देश (स्थान) में (नासिकाग्रभाग, नाभि, हृदय कमल, भृकुटि, सूर्य, चन्द्र, ध्रुवादि) ठहराना 'धारणा' है।*

व्याख्या—पूर्व में योग के जिन आठ अंगों की बात कही गई है उनमें पहले पाँच अंग बहिरंग साधन कहलाते हैं जिनका वर्णन साधनपाद के अन्तर्गत किया गया है। इन पाँचों बहिरंग साधनों के सिद्ध हो जाने पर साधक का क्रिया योग समाप्त हो जाता है। इसके बाद उसे किसी क्रिया को नहीं करना पड़ता तथा वह अक्रिंया के मार्ग में प्रवेश करता है। अन्तिम उपलब्धि अक्रिया से ही होती है। इस अक्रिया में 'धारणा', 'ध्यान' और 'समाधि' तीन मुख्य साधन हैं। इन तीनों में थोड़ा ही अन्तर है। बहिरंग साधनों से चित्त की वृत्तियों का समस्त भटकाव समाप्त हो जाता है तथा मन पूर्णतया स्थिर एवं नियन्त्रण में आ जाता है। इसके बाद मन को चित्त में तथा चित्त को अपने कारण में विलीन करने का कार्य इन अन्तरंग साधनों द्वारा पूरा करना होता है, तभी अन्तिम उपलब्धि

'कैवल्य' की प्राप्ति होती है।

इस सूत्र में 'धारणा' की व्याख्या की गई है कि जब चित्त का समस्त भटकाव समाप्त हो जाता है तो वह पालतू पशु की भाँति साधक के पूर्ण नियन्त्रण में आ जाता है। इसके बाद साधक उसका उपयोग मुक्ति प्राप्ति के लिए करता है। चित्त शक्ति वही है जिसका पहले संसार की उपलब्धियों तथा भोगों में उपयोग हो रहा था अब उसका मुक्ति (कैवल्य) के लिए उपयोग करना है। इस चित्त को अब किसी भी एक स्थान पर अपनी इच्छानुसार केन्द्रित किया जा सकता है। वह स्थान नाभि, कण्ठ, हृदय, भृकुटि, नासिकाग्र भाग आदि शरीर के भीतर के स्थान हो सकते हैं अथवा सूर्य, चन्द्रमा, ध्रुवतारा आदि बाह्य स्थान भी हो सकते हैं। इन भिन्न-भिन्न स्थानों पर चित्त के ठहराने को ही 'धारणा' कहते हैं जिनके अलग-अलग फल होते हैं जिसका वर्णन आगे किया जाएगा। 'धारणा' से मन की शुद्धि होती है तथा उसका भटकाव मिट जाता है।

सूत्र—२

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

तत्र=(जहाँ चित्त को लगाया जाय) उसीमें; **प्रत्ययैकतानता**=वृत्तिका एकतार चलना, **ध्यानम्**=ध्यान है।

अनुवाद— *जहाँ चित्त को लगाया जाय उसी में वृत्ति का एकतार चलना 'ध्यान' है।*

व्याख्या—धारणा में चित्त को किसी एक स्थान पर स्थिर किया जाता है। जब वह उसमें स्थिर रहकर निरन्तर उसी में एकतार चलता रहता है तो उसी को 'ध्यान' कहते हैं। 'धारणा' (कन्सन्ट्रेशन) और 'ध्यान' (मेडीटेशन) में यही अन्तर है। 'ध्यान' में विचारों का प्रवाह बन्द हो जाता है तथा वृत्ति का प्रवाह केवल ध्येय मात्र की तरह ही हो

जाता है। अन्य कोई वृत्ति नहीं उठती। धारणा से जहाँ मन की शुद्धि होती है वहाँ ध्यान से अस्मिता ('मैं' पन) का सुधार होता है। ध्यान के स्थिर होने पर साधक का अहंकार गिर जाता है तथा केवल 'हूँ' ही शेष रह जाता है जिसका लय समाधि में होता है।

सूत्र—३

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

अर्थमात्रनिर्भासम्=जब (ध्यान में) केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीति होती है और; **स्वरूपशून्यमिव**=चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब; **तदेव**=वही (ध्यान ही); **समाधिः**=समाधि हो जाता है।

अनुवाद— चित्त जिसका ध्यान कर रहा हो उसका स्वरूप शून्य होकर जब केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है वह 'समाधि' है।

व्याख्या—धारणा और ध्यान में कोई स्थान या वस्तु होती है जिस पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तथा चित्त का प्रवाह उसी ओर निरन्तर चलता रहता है किन्तु इसमें अधिक समय तक स्थिर रहने पर जिसका ध्यान किया जा रहा है उसका स्वरूप शून्य हो जाता है, उसका आभास ही मिट जाता है तथा केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है इस अवस्था को 'समाधि' कहते हैं। यह समाधि क्रिया नहीं बल्कि उपलब्धि है, यह साधना नहीं बल्कि घटना है जो ध्यान के स्थिर होने पर अपने आप घटती है। इस स्थिति में चित्त के निज स्वरूप का अभाव हो जाता है तथा वह ध्येय के आकार में परिणत हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि तीनों में कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। ये तीनों अक्रिया में केवल दृष्टा अथवा साक्षी भाव रखने से ये घटनाएँ घट जाती हैं। अपने को पूर्ण रूपेण सहज भाव से, निष्प्रयास छोड़ देना ही पर्याप्त है

सूत्र—४

त्रयमेकत्र संयमः।

एकत्र=किसी एक ध्येय-विषय में; **त्रयम्**=तीनों का होना; **संयमः**=संयम है।

अनुवाद— *धारणा, ध्यान, समाधि तीनों एक ही वस्तु में स्थित हों वह 'संयम' है।*

व्याख्या—जब किसी ध्येय वस्तु में ये तीनों (धारणा, ध्यान समाधि) स्थित हो जाते हैं तो इसे 'संयम' कहते हैं। इस प्रकार किसी में भी संयम करने से उसका सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है जिनका आगे वर्णन किया गया है। आज के वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयोगशाला में परीक्षण करके अथवा घटनाओं और परिस्थितियों का अध्ययन करके निर्णय लेते हैं। किंतु इन में पूर्ण ज्ञान के अभाव में त्रुटि की गुंजाइश रहती है। यह विधि अंश से पूर्ण की ओर जाने की है। इससे वैज्ञानिक पदार्थ से आरम्भ करके ऊर्जा तक पहुँचे हैं जबकि योगी सीधा पूर्ण का ज्ञान प्राप्त कर अंश तक पहुँचा है, यह समस्त सृष्टि उसी एक तत्त्व का फैलाव मात्र है। वह पुरुष और प्रकृति के स्वरूप से आरम्भ करके महत्तत्व, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्राएँ, भूत द्रव्य, इन्द्रियाँ तथा शरीर तक आया है। पूर्ण का ज्ञान होने से त्रुटियों की संभावना कम हो जाती है। सृष्टि का सारा ज्ञान योगियों ने इसी प्रकार 'संयम' करके प्राप्त किया है। अध्यात्म में जो त्रुटियाँ दिखाई देती हैं वे अज्ञानियों द्वारा की गई घोषणाओं तथा व्याख्याओं के कारण आई हैं अन्यथा पूर्ण ज्ञानी सृष्टि के रहस्यों को भली भाँति समझ सकता है क्योंकि उसकी सम्पूर्ण क्रिया प्रणाली का उसे ज्ञान हो जाता है। यही 'अन्तर्दृष्टि' है जिसे प्राप्त करके प्राचीन काल में योगियों, ऋषि महर्षियों आदि ने चमत्कारिक खोजें कीं। भारत इन खोजों में सबसे धनी है। चित्त जब किसी में इतना लग

जाये कि वह अपने आपको ही भूल जाता है तो उसे 'संयम' कहते हैं।

सूत्र—५

तज्जयात्प्रज्ञालोकः।

तज्जयात्=उसको जीत लेने से; **प्रज्ञालोकः**=बुद्धि का प्रकाश होता है।

अनुवाद— उस संयम के जय से प्रज्ञा का प्रकाश होता है।

व्याख्या—मनुष्य में सामान्य बुद्धि होती है जिससे वह सांसारिक छोटी-मोटी बातों को ही समझ सकता है तथा सीमित दायरे में ही निर्णय ले सकता है किन्तु जब मनुष्य में अन्तर्चेतना का विकास हो जाता है तो उसकी बुद्धि असाधारण को भी समझने तथा असीम का निर्णय लेने में भी सक्षम हो जाती है। इस विशेष बुद्धि को ही 'प्रज्ञा' कहते हैं। जब साधक का संयम सिद्ध हो जाता है तो उसमें इस प्रज्ञा का प्रकाश होता है जिससे वह सब कुछ स्पष्ट देख सकता है तथा सत्य का निर्णय ले सकता है। यही साधक का अध्यात्म प्रसाद है जिसकी उपलब्धि उसे इस संयम द्वारा होती है। इसी प्रज्ञा से योगी अलौकिक कार्य कर सकता है। वेद, उपनिषद्, पुराण, षट्दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, कुरान आदि ग्रन्थ इसी अलौकिक ज्ञान शक्ति द्वारा लिखे गये हैं। जिन्हें सामान्य बुद्धि वाले पूर्णतया नहीं समझ सकते न उनकी ठीक से व्याख्या ही कर सकते हैं। मनुष्य की ज्ञान शक्ति का यह उच्चतम विकास है।

सूत्र—६

तस्य भूमिषु विनियोगः।

तस्य=उस (संयम) का (क्रम से); **भूमिषु**=भूमियों में; **विनियोगः**=विनियोग (करना चाहिये)।

अनुवाद— उस विजयी संयम का स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मेत्तर आदि

विभिन्न समाधि भूमियों में क्रम से प्रयोग करना चाहिए।

व्याख्या—इस सूत्र में कहा गया है कि जब किसी साधक का उक्त संयम सिद्ध हो जाता है तो उसका प्रयोग सबसे पहले स्थूल विषयों में करना चाहिए। उसमें दृढ़ता आने पर फिर सूक्ष्म विषयों में एवं अन्त में सूक्ष्मेत्तर विषयों में करना चाहिए। इस क्रम से संयम को बढ़ाने से उसमें भटकाव नहीं होता। एक एक सीढ़ी चढ़ने से गिरने का भय नहीं रहता। इसलिए योग ऐसा ही निरापद मार्ग बताता है जिसमें यम, नियम से लेकर कैवल्य अवस्था तक की साधना निरापद होकर की जा सकती है तथा जितनी सीढ़ी वह चढ़ जाता है उसका कभी नाश नहीं होता। वह ज्ञान अगले जन्म में भी स्मृति रूप में रहता है। जिसका जीवन में अनुभव हो गया है वे ही संस्कार रूप में अगले जन्म में स्मृति रूप में रहते हैं। अन्य भूल जाते हैं।

सूत्र—७

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।

पूर्वेभ्यः=पहले कहे हुओं की अपेक्षा; **त्रयम्**=ये तीनों (साधन); **अन्तरङ्गम्**=अन्तरङ्ग हैं।

अनुवाद— *पहले कहे हुए (यम, नियम आदि) की अपेक्षा ये तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि) अन्तरंग हैं।*

व्याख्या—योग के आठ अंगों में प्रथम पाँच अंग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) बहिरंग साधन हैं जिनसे चित्त शुद्ध होकर स्थिर हो जाता है। इनकी व्याख्या साधन-पाद में की गई है। बाकी के ये तीनों अंग (धारणा, ध्यान, समाधि) अंतरंग साधन हैं जिनका वर्णन इस विभूतिपाद में किया जा रहा है। इन साधनों में किसी प्रकार की बाह्य आचरणों की आवश्यकता नहीं होती। गुरु गोरखनाथ ने तो यम नियमों को योग का अंग भी नहीं माना है। उनका कहना है कि ये तो

आचरण सम्बन्धी नियम हैं जो सभी सामान्य जनों के लिए अनिवार्य है। इसलिए वे षडंग योग (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) को ही योग के अंग मानते हैं। योग सिद्धि इन तीन अन्तरंग साधनों से ही होती है। कई साधक इन्हीं तीन अंगों से ही अपनी साधना आरम्भ करते हैं। पहले के पाँच साधनों में शरीर की आवश्यकता होती है किन्तु इसके बाद शरीर से किया जाने वाला कार्य समाप्त हो जाता है। केवल चित्त से सम्बन्धित कार्य ही शेष रह जाता है इसलिए इन्हें 'अन्तरंग' कहा गया है। वे पूर्व पाँच साधनों से ऊँची श्रेणी के हैं जो योग के अधिक निकट हैं।

सूत्र—८

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।

तदपि=वे (ऊपर कहे हुए धारणा आदि तीनों) भी; **निर्बीजस्य**=निर्बीज समाधि के; **बहिरङ्गम्**=बहिरङ्ग (साधन) हैं।

अनुवाद— *वे भी (धारणा, ध्यान, समाधि) निर्बीज समाधि के बहिरंग साधन हैं।*

व्याख्या—योग के ये अन्तिम तीन अंग (धारणा, ध्यान, समाधि) यद्यपि योग साधना में अन्तरंग साधन हैं किन्तु इनके सिद्ध होने पर 'सबीज समाधि' ही प्राप्त होती है। सबीज समाधि में साधक को सम्पूर्ण उपलब्धियाँ हो जाती हैं किन्तु ये चित्त की वृत्तियाँ बीज रूप में विद्यमान रहती हैं जिससे अवसर आने पर पुनः उनका प्रकटीकरण सम्भव है। इस बीज रूप वृत्तियों को नष्ट करके ही 'निर्बीज समाधि' उपलब्ध होती है। इसी को 'कैवल्य अवस्था' कहते हैं। निर्बीज समाधि को प्राप्त करने के लिए ये साधन काम नहीं आते इसलिए उसके लिए ये भी बहिरंग साधन ही हैं। उसके लिए साधन मात्र ही बाधा बन जाते हैं। वहाँ केवल दृष्टा भाव आवश्यक है जिससे चित्त का अपने कारण में

पूर्ण विलय हो जाता है। सबीज समाधि में समाधि प्रज्ञा के संस्कार रह जाते हैं जिनका पर वैराग्य की दृढ़ता से निरोध किया जाता है तभी निर्बीज समाधि सिद्ध होती है। इसमें किसी ध्येय में चित्त को स्थिर नहीं किया जाता क्योंकि यह भी क्रिया ही है। इसमें चित्त का ही अभाव किया जाता है जो बिना क्रिया के, वैराग्य भाव से ही होता है। सबीज समाधि तो इनके संयम से प्राप्त हो जाती है किन्तु निर्बीज समाधि इनके संयम करने से प्राप्त नहीं होती। वहाँ इस संयम करने वाले चित्त का ही अभाव करना पड़ता है। सबीज समाधि प्राप्त होने के बाद योगी को 'विवेक-ख्याति' प्राप्त होती है जिससे वह सत्यासत्य को जान सकता है। योगी की यहाँ तक की अवस्था 'सम्प्रज्ञात समाधि' ही है। इसके बाद 'निर्बीज समाधि' प्राप्त होती है जिसे 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। यही योग की अन्तिम सीढ़ी है। यहाँ समाधि भी अनावश्यक हो जाती है। यह संयम करने से नहीं आती बल्कि संयम को भी छोड़ देना पड़ता है। यहाँ सभी क्रिया को छोड़ देना होता है। यह अक्रिया से आती है।

सूत्र—९

व्युत्थाननिरोध संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः अभिभवप्रादुर्भावौ=व्युत्थान-अवस्था के संस्कारों का दब जाना और निरोध-अवस्था के संस्कारों का प्रकट हो जाना—यह; **निरोधक्षणचित्तान्वयः**=निरोधकाल में चित्त का निरोध-संस्कारानुगत होना; **निरोधपरिणामः**=निरोधपरिणाम है।

अनुवाद— व्युत्थान अवस्था के संस्कारों का दब जाना और निरोध अवस्था के संस्कारों का प्रकट हो जाना निरोध काल में चित्त

का इन दोनों संस्कारों में अनुगत (व्याप्त) होना 'निरोध परिणाम' है।

व्याख्या—धारणा, ध्यान, समाधि को जब किसी एक ही वस्तु में स्थिर किया जाता है तो उसे 'संयम' कहते हैं। इस संयम के फलस्वरूप चित्त वृत्तियों के व्युत्थान की अवस्था दब जाती है। उनका जो प्रकट रूप है वह समाप्त हो जाता है इससे 'सबीज समाधि' उपलब्ध होती है। इसके बाद साधक को 'विवेक ख्याति' प्राप्त होती है तथा दूसरे चरण में जाकर 'निर्बीज समाधि' उपलब्ध होती है। चित्त वृत्तियाँ के निरोध को ही योग कहा गया है जिसकी यह अन्तिम अवस्था 'निर्बीज समाधि' ही है। 'सबीज समाधि' की अवस्था में चित्त की वृत्तियों का जो प्रकट रूप है वह तो दब जाता है किन्तु इन वृत्तियों के जो संस्कार हैं वे बीज रूप में विद्यमान रहते हैं। बाहरी कार्यो को रोक देने से उसका स्वभाव नहीं बदल जाता। इस प्रकार यह निर्बीज समाधि तीन चरणों से गुजरने के बाद प्राप्त होती है। पहले चरण में यम, नियम आदि योग के पाँच अंगों के साधन से उसके बाह्य प्रकट स्वरूप का लोप होता है किन्तु मन में उसके विचारों की तरंगें उठती रहती हैं क्योंकि मन का ऐसा अभ्यास हो गया था। दूसरे चरण में मन के इन विचारों का लोप 'संयम' से होता है। यह संयम धारणा, ध्यान, समाधि से आता है। इससे मन में उठने वाले वृत्तियों के विचार समाप्त हो जाते हैं किन्तु वे बीज रूप में चित्त में विद्यमान रहती हैं क्योंकि चित्त का स्वभाव ही चंचल है। जब तक उसका यह स्वभाव वह छोड़ता नहीं है यह चित्त व्युत्थान और निरोध दोनों ही प्रकार के संस्कारों में व्याप्त रहता है। क्योंकि चित्त धर्मी है तथा ये संस्कार उसका धर्म है। धर्मी अपने धर्म में सदैव व्याप्त रहता है यह नियम है। इसलिए सबीज समाधि में भी ये निरोध संस्कार प्रकट रहते हैं। इसी को संस्कारों का बीज कहा गया है जो चित्त का स्वभाव है। अतः सबीज समाधि में वृत्तियों का तो अभाव हो जाता है किन्तु संस्कारों

का बीज विद्यमान रहता है जिसे तीसरे चरण में जाकर विवेक ख्याति द्वारा नष्ट किया जाता है तब निर्बीज समाधि उपलब्ध होती है। इस समय चित्त का सम्बन्ध केवल इन निरोध संस्कारों (बीज) के साथ ही होता है जो उसका स्वभाव है। यही 'निरोध परिणाम' है।

सूत्र—१०

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।

संस्कारात्=संस्कारबल से; **तस्य**=उस (चित्त) की; **प्रशान्तवाहिता**=प्रशान्तवाहिता (स्थिति) होती है।

अनुवाद— निरोध संस्कार से चित्त की गति प्रशान्त होती है।

व्याख्या—सबीज समाधि के बाद विवेक ख्याति प्राप्त होती है। इसमें साधक इन बीज रूप संस्कारों को जान लेता है तथा यह भी जान लेता है कि ये संस्कार चित्त के चंचल स्वभाव के कारण है। चंचलता इस चित्त का धर्म है जो उससे अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का ज्ञान हो जाना ही विवेक ख्याति है। जब उसे इस सत्य का ज्ञान हो जाता है तो वह चित्त के इस स्वभाव से निरन्तर सजग रहता हुआ यह देखता रहता है कि ये संस्कार पुनः अपना प्रभाव न दिखा सकें। निरोध परिणाम से चित्त की गति प्रशांत हो जाती है, उसका चंचलता का सारा प्रभाव नष्ट हो जाता है जिससे उस पुरुष (आत्मा) का बिम्ब उसे स्पष्ट दिखाई देने लगता है। इस स्थिति में पहुँचा योगी प्रकृति और पुरुष का भेद स्पष्टतया जान लेता है किन्तु इस स्थिति में भी ये संस्कार बीज रूप में चित्त में विद्यमान रहते ही हैं।

सूत्र—११

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणामः।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ=सब प्रकार के विषयों का।

करने की वृत्ति का क्षय हो जाना और किसी एक ही ध्येय विषय को चिन्तन करनेवाली एकाग्रता-अवस्था का उदय हो जाना—यह; **चित्तस्य**=चित्त का; **समाधिपरिणामः**=समाधि-परिणाम है।

अनुवाद— *सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करने की वृत्ति का क्षय हो जाना और किसी एक ही ध्येय विषय को चिन्तन करने वाली एकाग्रता अवस्था का उदय हो जाना यह चित्त का 'समाधि परिणाम' है।*

व्याख्या—इस समस्त सृष्टि के पदार्थों का कारण चित्त (महत्तत्व) है इसलिए इस चित्त में आये परिवर्तन के परिणाम स्वरूप सृष्टि के हर पदार्थ में परिवर्तन आता है। चित्त का यह परिवर्तन दो चरणों में होता है। प्रथम को 'समाधि परिणाम' तथा दूसरे को 'एकाग्रता परिणाम' कहते हैं। यम, नियमों आदि के पालन से चित्त की वृत्तियों का जो बाह्य स्वरूप (आचरण सम्बन्धी स्वरूप) है वह तो रुक जाता है किन्तु मन में उनके विचार चलते रहते हैं। इन विचारों का चलना चित्त की चंचलता ही है जिसे चित्त की विक्षिप्तावस्था कहते हैं यानी चित्त में क्षोभ उत्पन्न होना। साधक जब ध्यान, धारणा, समाधि में प्रवेश करता है तो सर्वप्रथम उसकी 'सम्प्रज्ञात समाधि' सिद्ध होती है। इसका वर्णन समाधि पाद के सूत्र १७ में किया गया है। इसके अन्तर्गत निर्वितर्क तथा सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त की चंचलता समाप्त होकर केवल ध्येय मात्र का ही ज्ञान रहता है। चित्त इस समाधि के द्वारा अपनी विक्षिप्तता (चंचलता) छोड़कर एकाग्र अवस्था में परिणत हो जाता है। यही चित्त का 'समाधि परिणाम' है। सम्प्रज्ञात समाधि के फलस्वरूप ही उसका यह परिणाम सामने आता है एवं एकाग्रता का उदय होता है। यहीं से चित्त में परिवर्तन आरम्भ होता है जो इसकी पहली सीढ़ी है। अनेक वृत्तियों में भटकने वाला मन अब एक ही खूंटे से बँध जाता है।

सूत्र—१२

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः।

ततः=उसके बाद; **पुनः**=फिर जब; **शान्तोदितौ**=शान्त होनेवाली और उदय होनेवाली; **तुल्यप्रत्ययौ**=दोनों ही वृत्तियाँ एक-सी हो जाती हैं, तब वह; **चित्तस्य**=चित्त का; **एकाग्रतापरिणामः**=एकाग्रता परिणाम है।

अनुवाद— *तब फिर शान्त और उदय होने वाली दोनों ही वृत्तियाँ एक सी हो जाती हैं तब वह चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' है।*

व्याख्या—समाधि परिणाम के फलस्वरूप चित्त की चंचलता रुक जाती है तथा उसकी एकाग्रता का उदय होता है यानी वह एक स्थान पर केन्द्रित होना आरम्भ हो जाता है। यही उसकी एकाग्रता का आरम्भ है। इसके बाद जब यह एकाग्रता सध जाती है तो चित्त में दूसरा परिणाम आता है। जिसे 'एकाग्रता परिणाम' कहते हैं। इसमें चित्त भली भाँति समाहित हो जाता है। इसमें उदय होने वाली तथा शान्त होने वाली वृत्ति एक-सी ही होती है। उनकी भिन्नता मिट कर वृत्ति मात्र रह जाती है। समाधि परिणाम में दोनों में भिन्नता होती है। शान्त और उदय होने वाली भिन्न-भिन्न होती हैं किन्तु अब उदय होने वाली भी शान्त हो जाती है इसलिए दोनों का एक ही शान्त रूप हो जाता है। यह एकाग्रता परिणाम उससे अधिक परिपक्व अवस्था है। यह तब आता है जब 'संयम' की अवस्था में साधक अधिक समय तक टिका रहे। इससे सम्प्रज्ञात विवेक ख्याति प्राप्त होती है तथा इसमें अधिक समय रहने पर ही उसे 'निर्बीज समाधि' का लाभ प्राप्त होता है। यहाँ पहुँचकर योगी कृतकृत्य हो जाता है। यही उसका अन्तिम फल है। इस स्थिति में पहुँचने पर योगी के मन में दूसरे विचार आते ही नहीं। फिर चित्त वहाँ

से हटता ही नहीं। निर्बीज समाधि से पूर्व फिर नीचे आने की सम्भावना बनी रहती है।

सूत्र—१३

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।

एतेन=(ऊपर जो चित्त के परिणाम बतला चुके हैं) इसीसे **भूतेन्द्रियेषु**=पाँचों भूतों में और सब इन्द्रियों में होनेवाले; **धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः**=धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम—(ये तीनों परिणाम); **व्याख्याताः**=कहे जा चुके।

अनुवाद— *उपर्युक्त चित्त के परिणामों से पाँचों भूतों में और सब इन्द्रियों में होने वाले धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम कहे जा चुके हैं।*

व्याख्या—अध्यात्म विज्ञान के अनुसार यह समस्त प्रकृति सत्व, रज, तम—इन तीन गुणों से युक्त है। ये तीनों गुण परिणामी हैं जिससे संसार की सभी वस्तुओं के कार्यों में परिवर्तन होते रहते हैं। हमें इस सृष्टि में जो कुछ दिखाई देता है वह इस प्रकृति का परिवर्तित स्वरूप ही है। इसका मूल तत्व प्रकृति का वह अव्यक्त स्वरूप है जो हमें दिखाई नहीं देता। उसका व्यक्त स्वरूप ही दिखाई देता है। उस अव्यक्त से व्यक्त तथा व्यक्त के भी विभिन्न रूप उस त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिवर्तित रूप ही हैं। सांख्य एवं योग की मान्यता ठीक वैज्ञानिकों जैसी है कि कोई भी पदार्थ बिना हुए उत्पन्न नहीं होता। शून्य से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। जिसका अस्तित्व ही नहीं है उससे किसी का निर्माण नहीं हो सकता। किन्तु जो वस्तु उत्पन्न होती है वह उत्पन्न होने से पहले भी अपने कारण में विद्यमान थी चाहे वह अवस्था व्यक्त हो अथवा अव्यक्त तथा उसके लुप्त होने के बाद भी अपने कारण में विद्यमान रहेगी। कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता, केवल रूप परिवर्तन होता है।

वैज्ञानिक जिसकी खोज आज कर पाये हैं उसे सांख्य और योग हजारों वर्ष पूर्व ही जान गया था बल्कि वह आज भी विज्ञान से अधिक गहराई तक जानता है।

इस सूत्र में यह बताया गया है कि इन भूत द्रव्यों तथा इन्द्रियों में यह परिवर्तन किस प्रकार होता है। सूत्र ९ तथा १२ में निरोध परिणाम, समाधि परिणाम तथा एकाग्रता परिणाम के समय होने वाले चित्त परिवर्तन के समान ही सब इन्द्रियों तथा इन पाँचों भूतों में परिवर्तन होता है। ये परिवर्तन तीन प्रकार से होते हैं—

१. **धर्म परिणाम**—किसी धर्मी में जब उसका एक धर्म दब जाता है तथा दूसरा प्रकट हो जाता है, अथवा एक धर्म का क्षय होकर दूसरे का उदय हो जाता है तो इसके परिणामस्वरूप उस पदार्थ में भी परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार से आये परिवर्तन को 'धर्म परिणाम' कहते हैं। जैसा कि सूत्र ९ एवं ११ में चित्त का जो परिवर्तन होता है वह धर्म परिणाम का उदाहरण है।

२. **लक्षण परिणाम**—यह परिणाम भी धर्म परिणाम के साथ-साथ हो जाता है। जिस प्रकार समाधि परिणाम में चित्त से विषयों का चिन्तन छूट जाता है तथा एक ही विषय में उसकी एकाग्रता हो जाती है यह 'लक्षण परिणाम' है। इस परिवर्तन में धर्मी का स्वभाव नहीं बदलता केवल उसका ढंग बदल जाता है, कार्य विधि बदल जाती है।

३. **अवस्था परिणाम**—जब कोई पदार्थ एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आ जाता है तो उसे 'अवस्था परिणाम' कहते हैं। यह परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है जैसे बचपन से जवानी और जवानी से बुढ़ापा प्रतिक्षण आ रहा है यह अवस्था परिणाम है किन्तु इसका ज्ञान लम्बे समय बाद होता है।

जिस प्रकार दूध से दही बनने में दूध का धर्म और लक्षण दोनों बदल जाते हैं। हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के संयोग से दोनों के धर्म व लक्षण बदल कर नया ही रूप पानी बन जाता है, उसी प्रकार समय के अनुसार भी वस्तु में परिवर्तन आ जाता है जैसे लोहे में जंग लग कर खराब हो जाना, वृद्धावस्था में शरीर का जीर्ण हो जाना। यह परिवर्तन 'अवस्था परिणाम' है। इस प्रकार इन्द्रियों में और इन्द्रियों से देखने वाले पदार्थों में यह परिवर्तन होता रहता है तथा जो कुछ आज दिखाई दे रहा है वह सभी इस परिवर्तन का ही परिणाम है। यह परिवर्तन उपर्युक्त तीनों कारणों से होता है।

दूध से दही बनने में दूध का धर्म व लक्षण दोनों बदल जाते हैं। मिट्टी से घड़ा बनने से अथवा चट्टान·बन जाने से उसका धर्म नहीं बदलता केवल लक्षण बदलता है। जवानी से बुढ़ापा आने में केवल अवस्था परिवर्तन है जो काल के अनुसार होता है। उसका धर्म व लक्षण नहीं बदलता। किसी वस्तु के धर्म में जब परिवर्तन हो जाता है तो वह पुनः अपने मूल स्वरूप में नहीं आ सकती। जैसे दूध से दही बनने पर वह पुनः दूध नहीं बन सकता।

सूत्र—१४

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती=अतीत, वर्तमान और आने वाले धर्मों में जो अनुगत (व्याप्त) रहता (आधाररूप में विद्यमान रहता है) वह; **धर्मी**=धर्मी है।

अनुवाद— *अतीत, वर्तमान और आने वाले धर्मों में जो व्याप्त रहता है (आधार रूप में विद्यमान रहता है) वह धर्मी है।*

व्याख्या—इस सूत्र में धर्मी (प्रकृति) का स्वरूप बतलाया गया है कि सृष्टि के समस्त पदार्थों का मूल यह प्रकृति ही है जो सभी में सदा

विद्यमान रहती है चाहे उस पदार्थ में कैसा ही परिवर्तन क्यों न हो जाय। इस मूल तत्व प्रकृति की अनेक शाक्तियाँ हैं जिनमें हुए परिवर्तन से ही वस्तुओं में परिवर्तन होता है। ये शक्तियाँ ही उस मूल प्रकृति का 'धर्म' कहलाती हैं। इस प्रकार सभी पदार्थो का आधार भूत द्रव्य (प्रकृत्ति) को 'धर्मी' कहा जाता है तथा उसमें रहने वाली अनेक शक्तियों का नाम 'धर्म' है। पदार्थ के निर्माण की प्रक्रिया में उसका रूप बदलता रहता है। पहले यानि अतीत में उसका रूप कुछ और था, वर्तमान में कुछ और है तथा भविष्य में कुछ और ही हो जायेगा। यह सब उसका 'धर्म' है। यह सारा परिवर्तन धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम तथा अवस्था परिणाम से होता है किन्तु उनमें आधार रूप में जो तीनों स्थितियों में सदा विद्यमान रहता है वह 'धर्मी' है। वह मूल धर्मी प्रकृति ही है जिससे सम्पूर्ण रूपों का विकास होता है। जिस प्रकार पहले जो बर्फ था, वर्तमान में पानी है तथा भविष्य में वाष्प बन जायेगा। ये तीन रूप उसके धर्म हैं तथा मूल में जो जल है वह धर्मी है। इसी प्रकार अन्य पदार्थो में समझना चाहिए। इस प्रकार एक धर्मी के अनेक धर्म (रूप) होते हैं जो प्रकट और शान्त होते रहते हैं। इस प्रकार इनके तीन भेद हैं—

१. **अव्यपदेश्य**—इन धर्मो में कुछ धर्म उस धर्मी में शक्ति रूप में विद्यमान रहते हैं उनका प्रकटीकरण नहीं होता जिससे उन्हें व्यवहार में नहीं लाया जा सकता उन्हें 'अव्यपदेश्य' कहते हैं। ये समय पाकर भविष्य में प्रकट होंगे इसलिये इन्हें 'अनागत' या आने वाले भी कहते हैं। जैसे बीज में वृक्ष छिपा है, बच्चे में पूर्ण मानव के सभी धर्म (शक्ति) छिपे हैं जो समय-समय पर प्रकट होते हैं, लकड़ी में अग्नि छिपी है आदि।

२. **उदित**—जो धर्म पहले धर्मी में शक्ति रूप में छिपे हुए थे उनका समय और परिस्थिति को पाकर प्रकट हो जाना ..

धर्म की 'उदित' अवस्था है। इसे उस धर्म का 'वर्तमान होना' भी कहते हैं। जैसे बीज में छिपे वृक्ष का प्रकट हो जाना, बच्चे में १४ वर्ष की आयु पर काम शक्ति का प्रकट होना, लकड़ी को रगड़ने से उसमें से अग्नि का प्रकट होना, आदि। इसका नियम यही है कि धर्मी में जो कुछ छिपी हुई शक्तियाँ हैं वे ही प्रकट होती हैं तथा एक दूसरे धर्म के मिश्रण से उसके अनेक रूप बन जाते हैं। जो धर्मी में निहित नहीं है वह नहीं बन सकता। यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी प्रकृति के विभिन्न रूप हैं तथा इन रूपों की कोई सीमा भी नहीं है। विज्ञान भी ऊर्जा से विभिन्न पदार्थों के निर्माण की बात कहता है।

३. **शान्त**—जब कोई धर्म अपना कार्य पूरा कर लेता है तो वे पुनः अपने मूल स्वरूप धर्मी (प्रकृति) में विलीन हो जाता है। इसे उसकी 'शान्त' अवस्था कहते हैं। विज्ञान भी कहता है कि ऊर्जा से ही पदार्थ वने हैं तथा वे पुनः ऊर्जा में परिवर्तित हो जाते हैं। नष्ट तो कुछ भी नहीं होता। यही बात अध्यात्म भी कहता है। जब यह धर्म धर्मी में विलीन हो जाता है तो उसे 'अतीत' भी कहते हैं।

इन धर्मों की तीनों स्थितियों में धर्मी (प्रकृति) सदा ही व्याप्त रहता है। धर्मी के बिना धर्म अलग से नहीं रह सकता क्योंकि धर्म उसी की शक्ति है। जैसे नृत्य को नृत्यकार से संगीत को संगीतकार से अलग नहीं किया जा सकता है। दोनों अभिन्न हैं उसी प्रकार प्रकृति और उसकी शक्ति (धर्म) है जो अभिन्न है।

सूत्र—१५

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।

परिणामान्यत्वे=परिणाम की भिन्नता में; **क्रमान्यत्वम्**=क्रम

की भिन्नता; **हेतुः**=कारण है।

अनुवाद— परिणाम की भिन्नता में क्रम की भिन्नता कारण है।

व्याख्या—सृष्टि में पाये जाने वाले पदार्थों को मुख्यतया दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—निर्जीव तथा सजीव। इस सजीव वर्ग में वनस्पति, पशु-पक्षी तथा मनुष्य आते हैं। इन सभी के अनेक रूप आकार एवं विशेषताएँ हैं। अज्ञानी लोग इन सब में भिन्नता देखते हैं किन्तु तत्व ज्ञानी जिन्हें इनके मूल स्वरूप का ज्ञान हो गया है वे कहते हैं कि यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी एक प्रकृति (धर्मी) के विभिन्न रूप (धर्म) हैं। प्रकृति एक है किन्तु उसकी अनेक शक्तियाँ हैं जिन्हें उसका धर्म कहा जाता है। इन शक्तियों के परस्पर मिलन एवं क्रिया प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही विभिन्न रूपों का निर्माण होता है। सूत्र १३ में बताया गया है कि धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम तथा अवस्था-परिणाम से ये परिवर्तन होते हैं। जिस प्रकार एक ही मिट्टी से विभिन्न प्रकार के बर्तन बनते हैं किन्तु मूल में वह मिट्टी ही है, जिस प्रकार कपास से विभिन्न वस्तुएँ बनती हैं, किन्तु मूल में कपास ही है, जिस प्रकार एक ही स्वर्ण से विभिन्न आभूषण बनते हैं किन्तु मूल में स्वर्ण ही है उसी प्रकार एक ही प्रकृति अपने धर्मो (शक्तियों) की विभिन्नता से अनेक पदार्थों एवं रूपों को जन्म देती है। इन सबका कारण उसकी क्रम की भिन्नता ही है। क्रम की भिन्नता से ही उसके परिणाम में भिन्नता आती है। जिस प्रकार एक ही विद्युत से ताप भी उत्पन्न किया जाता है प्रकाश भी उत्पन्न किया जाता है चुम्बकत्व भी उत्पन्न किया जाता है तथा इन तीनों के विभिन्न क्रमों से हजारों प्रकार के यन्त्र संचालित होते हैं किन्तु उन सब के मूल में विद्युत ही है। ऐसी ही प्रकृति है जिसकी शक्ति के क्रम की भिन्नता से ही सृष्टि के अनेक रूपों का निर्माण हुआ है। विज्ञान प्रत्येक पदार्थ की तीन अवस्थाएँ

मानता है—ठोस, द्रव और गैस। इस सूत्र के अनुसार यह भी क्रम की भिन्नता ही है जो सहकारी कारण ताप की भिन्नता का परिणाम है। मूल में एक ही पदार्थ है जिसके ये तीन परिणाम होते हैं। यह सम्पूर्ण सृष्टि इसी प्रकृति की शक्ति के क्रम की भिन्नता का ही परिणाम है। आज इसी तथ्य को विज्ञान भी स्वीकार करता है कि मूल में ऊर्जा ही है तथा ये सभी रूप उस ऊर्जा के परिवर्तन की प्रक्रिया स्वरूप निर्मित हुए हैं। सृष्टि की उत्पत्ति का वैज्ञानिक कारण भारतीय अध्यात्म बहुत पहले समझ गया था। भारतीय अध्यात्म इसमें विश्वास नहीं करता कि सृष्टि ईश्वर ने बनाई, न वह यह कहता है कि वह सृष्टा इस सृष्टि से भिन्न कहीं आसमान में बैठा इसका निर्माण कर रहा है बल्कि उसकी मान्यतानुसार यह सृष्टि प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के कारण अपने आप विकसित हो रही है। जो बात डार्विन आज कह रहा है वह सांख्य तथा योग हजारों वर्षों पूर्व कह चुका है। इसी मूल शक्ति को अध्यात्म ने 'अव्यक्त' असंभूत आदि नामों से अभिव्यक्त किया है।

सूत्र—१६

परिणामात्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।

परिणामत्रयसंयमात्=(उक्त) तीनों परिणामों में संयम करने से; **अतीतानागतज्ञानम्**=अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य—होनहार) का ज्ञान (हो जाता है)।

अनुवाद— *उक्त तीनों परिणामों में संयम करने से भूत और भविष्य का ज्ञान हो जाता है।*

व्याख्या—सृष्टि के निर्माण का निश्चित क्रम है तथा एक निश्चित प्रक्रिया है। उसका सारा विकास कार्य इन्हीं से एक निश्चित नियम के आधार पर काल के साथ होता है। यदि मनुष्य को इनकी जानकारी हो

जाय तो वह इस सृष्टि संरचना के भूत तथा भविष्य को जान सकता है कि यह सृष्टि आज जैसी है। वह पूर्व में कैसी थी तथा भविष्य में कैसी होगी? वैज्ञानिकों ने इस सृष्टि के रहस्यों की महत्वपूर्ण खोज की है कि यह पृथ्वी, सूर्य, चाँद, तारे, ग्रह, उपग्रह कैसे व कब बने तथा भविष्य में इनका स्वरूप क्या होगा? उन्होंने पृथ्वी की आयु, जल, वनस्पति, मनुष्य आदि के विकास-क्रम का महत्वपूर्ण अध्ययन किया तथा भविष्य के लिए भी बताया कि इसका स्वरूप क्या होगा? ठीक इसी प्रकार योगी यह जानता है कि इस सृष्टि का मूल कारण क्या है? उसका किस प्रकार परिवर्तन होकर वह आज की स्थिति में पहुँची है तथा भविष्य में कितने समय बाद यह किस रूप को प्राप्त होगी? वैज्ञानिक अपने विभिन्न उपकरणों, तथ्यों, सूचनाओं आदि के द्वारा विभिन्न प्रयोग, परीक्षण करके यह ज्ञात करता है तथा योगी भी यह जानता है कि इन वस्तुओं में धर्म परिणाम, लक्षण, परिणाम तथा अवस्था परिणाम से किस प्रकार परिवर्तन होता है। सिद्धान्त रूप से यह जान लेने के बाद वह जिस वस्तु के भूत तथा भविष्य का ज्ञान करना चाहता है उसमें संयम करके इनके स्वरूप का ज्ञान करता है। यह बहुत गहरी समझ का परिणाम है। हर पदार्थ तथा जीव में परिवर्तन का एक निश्चित क्रम एवं अवधि है तथा एक निश्चित प्रक्रिया है जिसे समझ लेने से वह सब कुछ जान सकता है आवश्यकता है इसको समझने की। योगियों का ऐसा ज्ञान कोई जादुई चमत्कार जैसा नहीं है बल्कि एक वैज्ञानिक जैसा ही है। केवल जानने की विधि का अन्तर है। वैज्ञानिकों के निर्णय परोक्ष साधनों पर आधारित हैं जिससे निष्कर्षो में त्रुटियाँ रह सकती हैं किन्तु योगी प्रत्यक्ष अनुभव करके जानता है। जिससे उसके निर्णय अधिक सत्य होते हैं। पूर्ण ज्ञान के अभाव में जो योगी ऐसी घोषणाएँ कर देते हैं उन्ही की घोषणाएँ असत्य सिद्ध होती हैं।

सूत्र—१७

शब्दार्थप्रत्ययाना मितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्र विभाग संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।

शब्दार्थप्रत्ययानाम्=शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों का; **इतरेतराध्यासात्**=जो एक में दूसरे का अध्यास हो जाने के कारण; **संकरः**=मिश्रण हो रहा है; **तत्प्रविभागसंयमात्**=उसके विभाग में संयम करने से; **सर्वभूतरुतज्ञानम्**=सम्पूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान (हो जाता है)।

अनुवाद— शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों का जो एक में दूसरे का अध्यास हो जाने के कारण मिश्रण हो रहा है उसके विभाग में संयम करने से सम्पूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—सूत्र १६ से इस पाद के अन्त तक विभिन्न स्थानों पर संयम करने से क्या-क्या ज्ञान होता है तथा कौन-कौन सी शक्तियाँ योगी में आ जाती हैं यह बताया गया है। ये सब सिद्धियाँ ही हैं जो सबीज समाधि के बाद योगी में आती है जब उसकी धारणा, ध्यान, समाधि की स्थिति दृढ़ हो जाती है। फिर वह जो कुछ जानना चाहे वह इन तीनों द्वारा संयम करके जान सकता है। क्योंकि इस स्थिति में पहुँच कर वह प्रकृति तथा उसके रहस्यों को स्पष्ट रूप से जान लेता है। सूत्र १६ में भूत एवं भविष्य के ज्ञान के बारे में बताया गया है। इस सूत्र में कहा गया है कि यदि कोई योगी सभी प्राणियों की बोली जानना चाहे तो उसे बोले गए शब्द, उसका अर्थ तथा उसका ज्ञान तीनों में अलग-अलग संयम करके जान सकता है। सामान्यतया शब्द, अर्थ और उसके ज्ञान का एक दूसरे में भ्रम हो जाने से इनका मिश्रण हो जाता है जिससे हम एक भाषा द्वारा अभिव्यक्त किये गए शब्दों का ही अर्थ एवं ज्ञान कर पाते हैं जो हमें सिखाया गया है। किन्तु यह सब बाह्य है। यदि हम भीतर की

ओर प्रवेश करें तो वहाँ पहले ज्ञान है फिर उससे विचार उत्पन्न होते हैं तथा बाद में इन विचारों की अभिव्यक्ति बाहर शब्दों अथवा संकेतों द्वारा होती है। यह अभिव्यक्ति चेहरे की भाव भंगिमा, विभिन्न संकेत, विभिन्न ध्वनियाँ आदि किसी से भी हो सकती है। मनुष्य के पास भाषा है जिससे वह अभिव्यक्ति देता है। पशु-पक्षियों के पास कुछ ध्वनियाँ हैं तथा संकेत हैं जिनसे वे अपने विचारों तथा भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। योगी संयम द्वारा उस प्राणी के भीतर जो ज्ञान है उसे पकड़ता है कि वह क्या कहना चाहता है। फिर उसके द्वारा जिन संकेतो, भावों तथा शब्दों का उच्चारण होता है उसे पकड़ता है इससे तीनों का सम्बन्ध हो जाता है कि किस प्रकार के ज्ञान को अभिव्यक्त करने के लिए किन शब्दों तथा ध्वनियों का प्रयोग किया। इस विधि से वह समस्त प्राणियों की बोली का ज्ञान प्राप्त करता है जो इन तीनों में अलग-अलग संयम करने से होता है। संयम द्वारा वह पहले उसके मन के भावों को जान लेता है, शब्द अथवा ध्वनि का ज्ञान बाद में होता है। हम शब्द पहले पकड़ते हैं फिर उनसे उसका आशय समझते हैं। शब्द और ज्ञान के बीच काफी दूरी है इसलिए सही तथ्य न शब्दों से प्रकट किये जा सकते हैं न समझने वाला उसका सही स्वरूप समझता ही है। इसी को 'कम्युनिकेशन गैप' कहते हैं। योगी इसे सही रूप से समझ सकता है क्योंकि वह भीतर पहुँच कर जान लेता है।

सूत्र—१८

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।

संस्कारसाक्षात्करणात्=(संयम द्वारा) संस्कारों का साक्षात् कर लेने से; **पूर्वजातिज्ञानम्**=पूर्वजन्म का ज्ञान (हो जाता है)।

अनुवाद— संयम द्वारा संस्कारों का साक्षात् कर लेने से पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—'कर्मवाद' के नियम के अनुसार प्रत्येक कर्म परिणामी है। उसका फल अवश्य होता है जिसे भोगना अनिवार्य है। बिना भोगे उससे मुक्ति नहीं हो सकती। ज्ञानी, ज्ञान द्वारा इन कर्मफलों से मुक्त होते हैं तथा अज्ञानी इन्हें भोग कर मुक्त होता है। इस कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपने जीवन में जो भी अच्छे-बुरे कर्म करता है अथवा जिसका वह अनुभव करता है वह उसकी स्मृति में विद्यमान रहते हैं। मृत्यु के बाद भौतिक वस्तुएँ तो सभी छूट जाती हैं किन्तु मन उस जीवात्मा के साथ रहता है जिसमें कर्मों की स्मृतियाँ रहती हैं। मृत्यु के बाद तथा पुनर्जन्म से पूर्व यह जीवात्मा एक निश्चित अवधि तक भटकती रहती है। यह समय उसका अन्तराल का समय (ड्रीम पीरियड) होता है। इस अवधि में इन स्मृतियों का न तो विकास होता है न क्षय। ये स्मृतियाँ ही उस जीव के 'संस्कार' कहलाते हैं जिनका अच्छा-बुरा फल भोगने के लिए उस जीव का पुनर्जन्म होता है। इन्हीं संस्कारों के फलस्वरूप उसे जन्म, आयु और भोग प्राप्त होते हैं तथा वर्तमान जीवन में वह जीव फिर नये कर्म करता है जिससे फिर नये संस्कार बनते हैं तथा पुरानों में से जिनको वह भोग लेता है वे समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य के कई जन्मों के संस्कार अंतःकरण में विद्यमान रहते हैं जिनमें से कुछ को ही वह एक जन्म में भोगता है शेष अगले जन्मों में भोगने के लिए सुरक्षित रहते हैं। इन संस्कारों के भोगने का भी एक क्रम होता है। सृष्टि में सब कुछ क्रमबद्ध है तथा उसके विशिष्ट नियम हैं जिससे इस सृष्टि का विकास नियमबद्ध रूप से हुआ है तथा पूर्ण नियन्त्रण एवं अनुशासन के साथ इसका संचालन हो रहा है। यदि कोई इसकी सम्पूर्ण कार्य विधि को जान लेता है तो वह सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्यों को जान सकता है।

मनुष्य का वर्तमान जीवन आवश्यक नहीं कि इससे पूर्व जन्म का ही फल हो। इससे दस जन्म अथवा पचास जन्म पूर्व का फल भी हो

सकता है। जो भोग इस जन्म में मनुष्य भोग रहा है वह हो सकता है इससे पूर्व हुए पचासवें जन्म में किये गये कर्मो का भोग हो। इन कर्म संस्कारों के उदय एवं विलीन होने का भी एक क्रम है। यह क्रम गणित जैसा नहीं है कि एक दो, तीन आदि क्रम से ये उदित होते हों बल्कि इन संस्कारों की तीव्रता तथा गहनता पर निर्भर है। योगी इन संस्कारों में संयम करके उनके क्रम को तथा तीव्रता को जान लेता है तथा यह भी जान लेता है कि ये संस्कार किस-किस समय उदय तथा लय होते हैं, यह जन्म कौन से संस्कारों का परिणाम है तथा पिछला जन्म किन संस्कारों के उदय होने से कब एवं कहाँ हुआ? वर्तमान जीवन पूर्व जन्मों के संस्कारों का ही परिणाम है। योगी इन संस्कारों में संयम करके जान लेता है कि वे संस्कार पूर्व के किस जन्म के हैं। इन्हें जानकर वह उसके पूर्व जन्मों को जान लेता है। मनुष्य के वर्तमान जीवन के सभी कर्म, विचार, आचरण, रुचि आदि उसके पूर्व जन्मों के संस्कारों के ही कारण है। वर्तमान जीवन पूर्व जन्मों के फलस्वरूप ही मिला है जिसकी झलक उसके समस्त कार्यों व व्यवहारों में देखी जा सकती है।

सूत्र—१९

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।

प्रत्ययस्य=दूसरे के चित्त का (संयम द्वारा साक्षात्कार कर लेने से); **परचित्तज्ञानम्**=दूसरे के चित्त का ज्ञान (हो जाता है)।

अनुवाद— *दूसरों की चित्त वृत्ति के संयम करने से उसके चित्त का ज्ञान हो जाता है।*

व्याख्या—सृष्टि में कई चीजें हैं जो प्रत्यक्ष जानी जाती हैं तथा कई ऐसी हैं जिनका जानी गई वस्तुओं के आधार पर अनुमान किया जाता है। चित्त भी लिंग मात्र अवस्था में रहता है अतः उसका साक्षात् नहीं होता, आभास मात्र होता है। उस का निर्धारण उसकी

आधार पर होता है। जिसकी जैसी वृत्तियाँ होती हैं वैसा ही उसका चित्त होता है। क्योंकि यह चित्त इन कर्म संस्कारों का समुदाय है तथा इसी समुदाय के कारण चित्त की वृत्तियाँ सक्रिय होती हैं। योगी पहले अपने चित्त की वृत्तियों के आधार पर उसका ज्ञान करता है। इसके बाद उसमें संयम की स्थिति आ जाती है। इसी संयम द्वारा वह जिसका भी चाहे ज्ञान कर सकता है। यदि ऐसा योगी किसी दूसरे की चित्त वृत्ति में संयम करता है तो उसे उसके चित्त का ज्ञान हो जाता है। इसके द्वारा वह दूसरे के भावों, विचारों, उसके जन्मों तथा उसके संस्कारों आदि का ज्ञान कर सकता है। दूसरे के चित्त का ज्ञान (साक्षात) उसकी वृत्तियों से ही हो सकता है। सीधा ज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म लिंग मात्र है, आभास स्वरूप ही है।

सूत्र—२०

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।

च=किंतु; **तत्**=वह ज्ञान; **सालम्बनम्**=आलम्बनसहित; **न**=नहीं होता; **तस्य अविषयीभूतत्वात्**=क्योंकि (वैसा चित्त) योगी के चित्त का विषय नहीं है।

अनुवाद— *दूसरों का चित्त विषय सहित साक्षात् नहीं होता क्योंकि वह संयम का विषय नहीं है।*

व्याख्या—इस सूत्र मे यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि यह चित्त संयम का विषय नहीं है क्योंकि यह अति सूक्ष्म तथा आभास मात्र है। वृत्तियाँ अथवा इसके विषय इनके बनिस्बत अधिक स्थूल हैं जिनमें संयम किया जा सकता है। पहले बतलाया जा चुका है कि योगी को स्थूल विषयों में संयम से आरम्भ करके सूक्ष्म की ओर बढ़ना चाहिए। आरम्भ में ही यदि कोई 'महत्तत्व' में संयम करने लगे अथवा अव्यक्त प्रकृति में संयम करने लगे तो वह सफल नहीं हो सकता। साथ ही दो

विषयों में एक साथ भी संयम नहीं होता। इस सूत्र में यही बात कही गई है कि दूसरे के चित्त का उसके विषय सहित साक्षात् नहीं होता क्योंकि वह चित्त संयम का विषय ही नहीं है। वृत्तियों में संयम करके ही उसके चित्त का ज्ञान किया जा सकता है।

सूत्र—२१

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशास्त्रम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।

कायरूपसंयमात्=शरीर के रूप में संयम कर लेने से; **तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे**=जब उसकी ग्राह्यशक्ति रोक ली जाती है, तब; **चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगे**=चक्षु के प्रकाश का उसके साथ सम्बन्ध न होने के कारण; **अन्तर्धानम्**=योगी अन्तर्धान हो जाता है।

अनुवाद— *शरीर के रूप में संयम करने से जब उसकी ग्राह्य शक्ति रोक ली जाती है तब चक्षु के प्रकाश का उसके साथ सम्बन्ध न होने के कारण योगी अन्तर्धान हो जाता है।*

व्याख्या—हमें वस्तुएँ किस प्रकार दिखाई देती हैं? जब किसी वस्तु पर प्रकाश पड़ता है तो वह परावर्तित होकर हमारी आँख की पुतली पर पड़ता है जो कैमरे के लैंस जैसा कार्य करती है। इस पुतली में से गुजर कर ये किरणें पीछे की ओर एक निश्चित दूरी पर उसका बिम्ब बनाती हैं। इस बिम्ब के साथ जो स्नायु जुड़े रहते हैं वे इसकी सूचना मस्तिष्क को देते हैं जिससे उस वस्तु की आकृति का ज्ञान होता है। किन्तु योगी ऐसी सिद्धि प्राप्त कर लेता है कि वह उपस्थित होते हुए भी किसी को दिखाई नहीं देता। वह खड़ा-खड़ा अन्तर्धान हो जाता है। इस सूत्र में इसकी विधि बतलाई गई है कि जब योगी अपने शरीर के रूप में संयम कर लेता है तो उसके शरीर का रंग ऐसा हो जाता है कि उससे प्रकाश की किरणें परावर्तित ही नहीं होतीं जिससे दूसरे उपस्थित

लोगों की आँखों में उसका बिम्ब बनता ही नहीं। इसी कारण उस योगी को कोई देख नहीं सकता। यही उसका अन्तर्धान होना है। अन्तर्धान का अर्थ गायब हो जाना नहीं है बल्कि व्यक्ति की दृश्यता शक्ति में नहीं आना है। इसी प्रकार यदि वह शब्द में संयम करले तो उसका शब्द कोई नहीं सुन सकता क्योंकि वह इन ध्यान तरंगों को ही रोक लेता है जिससे सामने वाले व्यक्ति के कानों तक ये तरंगें पहुँचती ही नहीं। यदि योगी शरीर के पृथ्वी तत्व में संयम कर लेता है तो उसे कोई छू नहीं सकता। ये सब सिद्धियाँ उसके संयम करने से प्राप्त होती हैं।

सूत्र—२२

सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।

सोपक्रमम्=उपक्रमसहित; **च**=और; **निरुपक्रमम्**=उपक्रम-रहित—ऐसे दो प्रकार के; **कर्म**=कर्म होते हैं; **तत्संयमात्**=उनका संयम कर लेने से (योगी को); **अपरान्तज्ञानम्**=मृत्यु का ज्ञान हो जाता है; **वा**=अथवा; **अरिष्टेभ्यः**=अरिष्टों से भी (मृत्यु का ज्ञान हो जाता है)।

अनुवाद— *उपक्रम सहित और उपक्रम रहित कर्मों में संयम करने से अथवा अरिष्टों (बुरे चिह्नों) से भी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।*

व्याख्या—जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी। नये जन्म के लिए मृत्यु आवश्यक है। जन्म से लेकर मृत्यु तक के समय को 'आयु' कहते हैं। किस मनुष्य की कितनी आयु है इसके विषय में अध्यात्म का 'कर्मवाद' का नियम अधिक महत्त्वपूर्ण है जिसे योगी उन कर्मो में संयम करके जान लेता है।

इस सूत्र में इसी की व्याख्या की गई है कि पूर्व जन्मों में किये गए कर्मो के भोग के लिए ही मनुष्य का पुनर्जन्म होता है तथा इन्हीं कर्मो के

अनुसार उसे आयु और भोग प्राप्त होते हैं। पूर्व जन्मों में संग्रहीत कर्मो के कुछ अंश का भोग मनुष्य एक जन्म में करता है। शेष अगले जन्मों में भोगने के लिए सुरक्षित रहते हैं। जिन कर्मो का भोग एक जन्म में किया जाना है वे ही उसकी आयु का निर्धारण करते हैं। ये कर्म भी दो प्रकार के होते हैं। पहला 'सोपक्रम कर्म' है। जिनका भोग आरम्भ हो चुका है तथा वे अपना फल देने लगे हैं। उनके भोग का क्रम चल रहा है। दूसरा 'निरुपक्रम कर्म' है जिनका भोग का क्रम अभी आरम्भ नहीं हुआ है। पहले कर्म के भोग की समाप्ति पर वे आरम्भ होंगे। दोनों प्रकार के कर्मो के भोग की एक निश्चित अवधि होती है जिसमें ये दोनों प्रकार के भोग समाप्त हो जाते हैं। यह अवधि ही मनुष्य की 'आयु' होती है। योगी इन दोनों प्रकार के कर्मो में संयम करके यह जान लेता है कि कौन-कौन से कर्म कितने अंशों में अपना फल दे चुके हैं तथा उनका कितना फल और भोगना शेष है तथा इनके भोगने की गति क्या है? जिनकी भोगने की गति तीव्र होती है वे जल्दी ही उन्हें भोग कर संसार से विदा हो जाते हैं तथा जिनकी गति धीमी है वे दीर्घायु होकर उन्हें भोगते रहते हैं। योगी इनका हिसाब लगाकर जान जाता है कि दोनों प्रकार के भोग कितने समय में समाप्त हो जायेंगे। इससे उसे मृत्यु का ज्ञान हो जाता है कि उसकी मृत्यु कब होगी? इसके अलावा योगी अथवा ध्यानी को मृत्यु से पूर्व कुछ अशुभ चिह्न दिखाई देते हैं ऊर्ध्व श्वांस का चलना, यमदूतों का दिखाई देना अथवा अन्य अस्वाभाविक घटनाएँ घटित होने पर उसे मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

ज्योतिषी भी काल गणना के अनुसार मृत्यु का समय एवं आयु निर्धारित करते हैं। उनके सिद्धांत के अनुसार जन्म के समय जो लग्न होता है तथा ग्रहों की जो स्थिति होती है उनके अनुसार वे सम्पूर्ण जीवन की घटनाओं, आयु तथा मृत्यु का समय निर्धारित करते हैं। सूक्ष्म रूप से वे ग्रहों की दशा, अंतर्दशा तथा प्रत्यंतर दशा निकालकर इन के सूक्ष्म

मान प्राप्त करते हैं इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य का जन्म अपने कर्मों के अनुसार पूर्व निर्धारित समय पर ही होता है तथा उसकी मृत्यु भी निश्चित समय पर ही होती है। दोनों में विधि चाहे भिन्न हो किन्तु दोनों का आधार कर्मवाद ही है।

अध्यात्म के अनुसार जीवात्मा अपनी वासनापूर्ति हेतु शरीर को ग्रहण करती है। शरीर का निर्माण माँ-बाप के संयोग से होता है तथा जीवात्मा उसे अपनी वासना की पूर्ति हेतु उपयुक्त समय पाकर उसमें प्रवेश कर जाती है। वह इस शरीर को अपने निवास के रूप में उपयोग करती है क्योंकि शरीर के बिना वासनापूर्ति सम्भव नहीं है। जब शरीर इस वासना पूर्ति के अयोग्य हो जाता है तब वह उसे छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेती है। भगवान कृष्ण ने भी गीता में यही कहा है कि 'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।' (गीता २/२२) इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर का निर्माण भिन्न प्रकार से होता है तथा जीवात्मा इसका उपयोग मात्र करती है। शरीर की आयु उसके स्वयं के कारणों पर निर्भर है जिसे उचित रख रखाव से घटाई बढ़ाई जा सकती है। स्वस्थ एवं संयम से जीने वाले व्यक्ति की आयु में वृद्धि हो सकती है तथा शरीर का दुरुपयोग करने पर उसमें कमी भी हो सकती है किन्तु यदि उसके कर्मफल भोग शेष रह गये हैं व इससे पूर्व ही शरीर के विकृत हो जाने से उसकी मृत्यु हो गई है तो वे कर्मफल उसे अगले जन्म में भोगने पड़ते हैं। यदि शरीर पूर्ण रूप से विकृत नहीं हुआ है और उसके कर्मफल भोग शेष है तो वह लम्बे समय तक रुग्ण अवस्था में जीवित रहकर उन्हें भोगता रहता है। उनकी समाप्ति पर ही उसके प्राण छूटते हैं।

किसी विशेष प्रकार की इच्छा मन में रह जाने पर भी उसके प्राण आसानी से नहीं छूटते। उनकी पूर्ति करने पर प्राण शीघ्र ही छूट जाते हैं।

इन सबको योगी संयम द्वारा ज्ञात करके मृत्यु का ज्ञान कर सकता है।

विज्ञान जगत् में सजीव की मृत्यु का कारण डी०एन०ए० की क्रियाशीलता है जिसकी निश्चित अवधि होती है किन्तु अध्यात्म के अनुसार मनुष्य की इच्छाशक्ति व उसकी वासना का आयु से अधिक सम्बन्ध है। विज्ञान की शोध अभी ऊपरी-ऊपरी ही है।

सूत्र—२३

मैत्र्यादिषु बलानि।

मैत्री आदिषु=मैत्री आदि भावनाओं में (संयम करने से) (मैत्री आदि विषयक); **बलानि**=बल मिलते हैं।

अनुवाद— *मैत्री आदि भावनाओं (मैत्री, करुणा, मुदिता आदि) में संयम करने से योगी को अमोघ बल प्राप्त होता है।*

व्याख्या—समाधिपाद के सूत्र ३३ में बताया गया है कि सुखी जनों से मित्रता, दु:खियों पर करुणा, पुण्यात्माओं में प्रसन्नता तथा पापियों की उपेक्षा की भावना से चित्त प्रसन्न होता है। साधक इनका पालन करके अपने चित्त को प्रसन्न रखकर ही योग मार्ग में आगे बढ़ सकता है। जीवन तथा योग साधना दोनों के लिए विधायक दृष्टि बड़ी महत्त्वपूर्ण है इससे व्यक्ति अनेक प्रकार के दुर्विचारों एवं संघर्ष से बच जाता है तथा जीवन में अत्यन्त मानसिक शान्ति का अनुभव करता है किन्तु ऐसा योगी जो सिद्धावस्था में पहुँच जाता है यदि वह मैत्री, करुणा और मुदिता में संयम करता है तो उसे अमोघ बल प्राप्त होता है। अध्यात्म का नियम है कि विधायक होने से वह स्व-ऊर्जा को संचित करता है, उसका क्षय नहीं होता जिससे उसमें अपूर्व साहस, धैर्य, आत्मविश्वास, विचारों एवं कार्य में दृढ़ता, आत्मबल प्राप्त होता है। इनके बल पर ही वह जीवन में अद्भुत कार्य कर सकता है। राम, कृष्ण, विवेकानंद, महात्मा गाँधी आदि अनेक अवतारी पुरुष इसी विधायक

दृष्टि के कारण आत्मबल के धनी हुए हैं जब कि नकारात्मक दृष्टि वाले भौतिक साधनों से सम्पन्न होते हुए भी आत्मा से निर्बल हो जाते हैं क्योंकि इससे उनकी ऊर्जा का क्षय होता रहता है। रावण, कौरव, दानव आदि इसी कारण से भौतिक शक्तियों से सम्पन्न होते हुए भी आत्मबल में निर्बल ही सिद्ध हुए। अध्यात्म के साथ ही यह दृष्टि जीवन में भी लागू होती है कि विधायक दृष्टि वाला अनेक प्रकार की चिन्ताओं तथा परेशानियों से बचा रहता है जिससे वह अपना जीवन सुख एवं शान्ति से व्यतीत करता है तथा लोगों की सद्‌भावना प्राप्त करता है जब्र कि इसके विपरीत नकारात्मक दृष्टि वाला सदा ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, वैमनस्य आदि की अग्नि में निरन्तर जलता रहता है। जो दूसरों को चैन से नहीं रहने देता वह स्वयं भी चैन से नहीं रह सकता। अध्यात्म में यह प्रतिक्रिया का सिद्धान्त है कि जैसा तुम दूसरों को दोगे उसका हजार गुना तुम्हें मिलेगा। सुख देने वाला हजार गुना सुख प्राप्त करता है एवं दुःख देने वाला हजार गुना दुःख उठाता है। यह सृष्टि का नियम है।

सूत्र—२४

बलेषु हस्तिबलादीनि।

बलेषु=(भिन्न-भिन्न) बलों में (संयम करने से); **हस्तिबलादीनि**=हाथी आदि के बल के सदृश (संयम के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के) बल प्राप्त होते हैं।

अनुवाद— *भिन्न-भिन्न बलों में (हाथी, सिंह, अश्व आदि) संयम करने से हाथी आदि के बल के सदृश बल प्राप्त होते हैं।*

व्याख्या—मनुष्य के व्यक्तित्व पर विचारों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार के वह विचार करता है वैसा ही उसका व्यक्तित्व बन जाता है। महापुरुषों के आदर्शो पर विचार करने वाला, बहादुरी के विचार करने वाला, सच्चाई और ईमानदारी पर विचार करने वाला,

सैनिकों का विचार करने वाला, बुद्धि का विचार करने वाला वैसा ही बन जाता है। इसी प्रकार चोरी, हत्या, हिंसा, डकैती, जासूसी आदि का विचार करने वाला उसी प्रकार का हो जाता है। कर्म हमेशा विचारों के ही अनुगामी होते हैं इसलिए पूर्ण संकल्प के साथ जो भी विचार किये जाते हैं वे अवश्य पूर्ण होते हैं तथा वैसा ही वह बन भी जाता है। सभी महापुरुष इसी संकल्प साधना के कारण ऊपर उठे हैं। योगी का संयम इन विचारों से भी ऊँचे स्तर का है। वह जब धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा हाथी, घोड़ा, गरुड़, वायु आदि किसी के भी बल में संयम करता है तो उसे वैसा ही बल प्राप्त हो जाता है।

सूत्र—२५

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्=ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से; **सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्**=सूक्ष्म व्यवधानयुक्त और दूर-देश में स्थित वस्तुओं का ज्ञान (हो जाता है)।

अनुवाद— ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से सूक्ष्म, व्यवधान युक्त और दूर देश में स्थित वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—समाधिपाद के छत्तीसवें सूत्र में बताया गया है कि साधक के चित्त की निर्मलता होने पर हृदय कमल में ध्यान करने से ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का उदय होता है। इस ज्ञान प्रकाश के आलोक में योगी को सब कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगता है। सामान्यतया मनुष्य को तीन प्रकार की वस्तुएँ नहीं दिखाई देतीं। अति सूक्ष्म, बहुत दूर की तथा जिस वस्तु और आँख के बीच में कोई व्यवधान अथवा रुकावट हो। आजकल वैज्ञानिक उपकरणों जैसे सूक्ष्मदर्शी यन्त्र, दूरदर्शी यन्त्र तथा अन्य साधनों जैसे क्ष-किरणें, रेडियो साउण्ड, राडार आदि की सहायता से वैज्ञानिकों ने दूर आकाश, भूगर्भ, समुद्रतल, शरीर के भीतरी भाग,

परमाणु आदि अनेक नहीं दिखाई देने वाली वस्तुओं को भी देख लिया है तथा आगे और जानने के प्रयत्न जारी हैं किन्तु योगी ये सारी वस्तुएँ ज्योतिष्मती प्रकाश के उदय होने से जान सकता है। प्राचीन काल में इस प्रकार की जो भी महत्वपूर्ण जानकारी मिली है उसका योग ही आधार था। आज भी ऐसे योगी हैं जो इस प्रकार का ज्ञान रखते हैं किन्तु वे इनका प्रदर्शन नहीं करते न उपयोग ही करते हैं क्योंकि ऐसा करने से वह शक्ति नष्ट हो जाती है तथा अहंकार बढ़ने से उनके आगे का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इनका उपयोग करने से ऊर्जा का क्षय होता है जो उन्होंने बड़ी मेहनत से संग्रहीत की है। इन योगियों ने ही परमाणु महत्तत्व, तीनों गुण उनके रंग, समुद्र में छिपे रत्न, भूगर्भ में छिपे विभिन्न खनिज, शरीर रचना व उनकी नाड़ियों का सूक्ष्म ज्ञान, आकाश में स्थित दूर वाले सितारों आदि का ज्ञान इसी प्रकार संयम करके प्राप्त किया था जो आज भी महत्वपूर्ण है। भारतीय ज्योतिष के मान आज भी उतने ही मान्य हैं जितने वैज्ञानिकों द्वारा लिये गये मान। यह सब योग के आधार पर किया गया।

सूत्र—२६

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।

सूर्ये=सूर्य में; **संयमात्**=संयम करने से; **भुवनज्ञानम्**=समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है।

अनुवाद— सूर्य में संयम करने से समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—सृष्टि की उत्पत्ति अव्यक्त से व्यक्त, असंभूत से संभूत तथा सूक्ष्म से स्थूल की ओर हुई है। इसकी उल्टी प्रक्रिया में जाने से इस सृष्टि की उत्पत्ति का कारण ज्ञात हो सकता है। विज्ञान इसकी खोज भौतिक साधनों एवं स्थूल प्रमाणों के आधार पर करता है जो एक

निश्चित सीमा तक ही सफलता पा सकता है किन्तु योग इससे भी अधिक गहराई में जाने में समर्थ है। योग द्वारा खोज का सारा आधार 'संयम' है। सृष्टि की उत्पत्ति में सर्वप्रथम तेजोमय 'महत्तत्व' उत्पन्न हुआ। इसी महत्तत्व से सूक्ष्म लोकों का विकास हुआ तथा सूक्ष्म के बाद स्थूल का निर्माण हुआ। योगी इस तेजोमय पिण्ड (सूर्य) में संयम करके इन सभी सूक्ष्म लोकों तथा भुवनों का ज्ञान प्राप्त करता है। पुराणों में जिन लोकों तथा भुवनों का वर्णन मिलता है वे सभी सूक्ष्म जगत् के हैं। इस स्थूल जगत् से इनका सम्बन्ध नहीं है। स्थूल जगत् में यदि वैज्ञानिक इन्हें ढूँढ़ने का प्रयास करेंगे तो वे कहीं नहीं मिलेंगे। इस सूत्र में जिस सूर्य की बात कही है वह एक तेजोमय पिण्ड है जो आरम्भ में था तथा उसी से इन सूक्ष्म एवं स्थूल लोकों का विकास हुआ है। हमारी पृथ्वी के सूर्य से इसका अर्थ नहीं है क्योंकि ऐसे अनेक सूर्य इस ब्रह्मांड में विद्यमान हैं जिनका निर्माण तेज से हुआ है। यह तेज ही घनीभूत होकर सूर्य बने तथा सूर्यो के ठण्डा होने से पृथ्वियाँ बनीं। यदि हमारे सूर्य में ही संयम किया जाता है तो इससे उससे सम्बन्धित सौर-मंडल का ही ज्ञान हो सकता है समस्त लोकों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यहाँ सूर्य का अर्थ वह तेजोमय पिण्ड ही समझना चाहिए।

सूत्र—२७

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।

चन्द्रे=चन्द्रमा में (संयम करने से); **ताराव्यूहज्ञानम्**=सब तारों के व्यूह (स्थिति-विशेष) का ज्ञान हो जाता है।

अनुवाद— *चन्द्रमा में संयम करने से सब तारा समूह का ज्ञान हो जाता है।*

व्याख्या—इसी प्रकार चन्द्रमा में संयम करने से सव तारा-समूहों का ज्ञान हो जाता है। यहाँ भी यह वात समझ लेनी चाहिए कि सृष्टि

निर्माण की प्रक्रिया के आरम्भ में केवल तेज था। इस तेज से ही विभिन्न तेजोमय पिण्डों का निर्माण हुआ जो पहले की अपेक्षा अधिक घना था तथा भिन्न-भिन्न पिण्डों में संगठित हुआ। इन पिण्डों से ही छोटे पिण्ड अलग हुए तथा अपना ताप खोकर वे ठोस पिण्डों के रूप में परिवर्तित हुए। इनमें सभी ग्रह, उपग्रह आदि ठोस पिण्ड आ जाते हैं। यहाँ चन्द्रमा का अर्थ केवल हमारी पृथ्वी के चन्द्रमा से ही नहीं है बल्कि उन तेजोमय पिण्डों के छिटकने से ही अनेक तारा समूहों का निर्माण हुआ है। चन्द्रमा भी उसी प्रक्रिया का रूप है। इसलिए इस एक चन्द्रमा अर्थात् सूर्य से निकले हुए पिण्ड में संयम करने से सभी तारा समूहों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि इनकी रचना भी उसी तेजोमय पिण्ड से हुई है।

सूत्र—२८

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।

ध्रुवे=ध्रुव तारों में (संयम करने से); **तद्गतिज्ञानम्**=उन ताराओं की गति का ज्ञान हो जाता है।

अनुवाद— ध्रुव में संयम करने से उन ताराओं की गति का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—प्रत्येक घूमने वाली वस्तु का एक केन्द्र होता है। हमारे सौरमंडल का केन्द्र सूर्य है जिसकी वह परिक्रमा कर रहा है। ब्रह्मांड में कोई भी पिण्ड बिना परिक्रमा किये नहीं रह सकता। वैज्ञानिक कहते हैं हमारा सूर्य भी अपने सौरमंडल को साथ लिए धनुराशि की परिक्रमा कर रहा है। धनुराशि हमारे विश्व (यूनिवर्स) का केन्द्र है। किन्तु भारतीय धारणा के अनुसार इसका केन्द्र ध्रुव है। जिसके चारों ओर ये सभी सितारे चक्कर लगा रहे हैं। इसलिए यदि ध्रुव में संयम किया जाता है तो इन समस्त सितारों की गति का ज्ञान हो जाता है।

सूत्र—२९

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।

नाभिचक्रे=नाभिचक्र में (संयम करने से); **कायव्यूहज्ञानम्**=शरीर के व्यूह (उसकी स्थिति) का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

अनुवाद— नाभि चक्र में संयम करने से देह रचना का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—शरीर का केन्द्र नाभि है। गर्भावस्था में बालक नाभि द्वारा ही माँ से संयुक्त रहता है तथा इसी के द्वारा अपनी खुराक लेकर शरीर का पोषण करता है। शरीर के निर्माण में भी सर्वप्रथम नाभि का ही विकास होता है तथा इसके द्वारा प्राप्त खुराक से अन्य अंगों का विकास होता है। नाभि में ही वह चक्र है जिसमें शरीर की समस्त नाड़ियाँ गूंथी हुई हैं इसलिए योगी इस नाभि चक्र में संयम करके शरीर रचना का ज्ञान कर सकता है। शरीर का विकास भी क्रमिक रूप से होता है। इस क्रम का ज्ञान नाभि चक्र में संयम से होता है। प्राचीन काल में इसी आधार पर शरीर की सूक्ष्म से सूक्ष्म नाड़ियों को पहचाना तथा इसी के आधार पर चिकित्सा शास्त्र आयुर्वेद का विकास हुआ। आजकल की वैज्ञानिक पद्धति भौतिक संसाधनों तथा परीक्षणों पर आधारित है। विभिन्न परीक्षणों द्वारा ही वैज्ञानिक किसी निर्णय पर पहुँचता है जबकि योगी इस संयम द्वारा सीधा ही निर्णय तक पहुँच जाता है।

सूत्र—३०

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्ति।

कण्ठकूपे=कण्ठकूप में (संयम करने से); **क्षुत्पिपासानिवृत्तिः**=भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

अनुवाद— कण्ठ कूप में संयम करने से भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या—भूख और प्यास शरीर की नैसर्गिक आवश्यकता है। शरीर को अपने पोषण के लिए भोजन, जल, वायु आदि की आवश्यकता होती है जिसे वह स्वयं माँग लेता है किन्तु योगी उसकी इस प्रकृति पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। वैज्ञानिक बाहरी भौतिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर कहता है कि हमने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है किन्तु यह कोई विजय नहीं है। यह केवल उसका ज्ञान प्राप्त कर उसका उपयोग मात्र है जब कि योगी उनकी स्वाभाविक क्रिया पर ही विजय प्राप्त कर लेता है। प्रकृति के कार्यो की अपेक्षा उसके स्वभाव पर विजय प्राप्त करना अधिक कठिन है। योग के अनुसार जिह्वा के मूल के नीचे कण्ठ कूप है। इस पर प्राणवायु टकराती है तभी व्यक्ति को भूख-प्यास का अनुभव होता है। जिस प्रकार इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान का अनुभव करने वाला मस्तिष्क है उसी प्रकार भूख प्यास का भी अनुभव मस्तिष्क से होता है योगी इस कण्ठ कूप में संयम करके मस्तिष्क से उसका सम्बन्ध तोड़ देता है जिससे उसे इसका अनुभव नहीं होता। वैज्ञानिक इसी कार्य को एनेस्थेसिया द्वारा करते हैं जिसे योगी संयम द्वारा करके लम्बे समय तक बिना खाये पिए जीवित रह सकता है तथा इस अवधि में इसका शरीर पर भी विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता।

सूत्र—३१

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।

कूर्मनाडयाम्=कूर्माकार (नाड़ी में संयम करने से); **स्थैर्यम्**=स्थिरता होती है।

अनुवाद— कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता होती है।

व्याख्या—मनुष्य के शरीर में नाड़ियों का एक ऐसा जाल है

जिनसे होकर शारीरिक ऊर्जा विभिन्न अंगों को पहुँचती है जिससे वे अंग सक्रिय रहते हैं। जब इस ऊर्जा प्रवाह में रुकावट आ जाती है तो उससे सम्बन्धित अंग कार्य करना बन्द कर देते हैं यह ऊर्जा आत्मा की ही ऊर्जा है जिसका मुख्य केन्द्र नाभि है। यहीं से मनुष्य को जीवन मिलता है तथा मृत्यु के समय प्राण भी यहीं से अन्तिम रूप से निकलते हैं। इन नाड़ियों का जाल विभिन्न केन्द्रों तथा उप-केन्द्रों द्वारा फैला हुआ है। नाभि के बाद इनके छः मुख्य केन्द्र हैं जिन्हें हठयोग में षट्चक्र कहा गया है। ये शक्ति के बड़े केन्द्र हैं। इनके बाद करीब सात सौ छोटे-छोटे केन्द्र हैं जिनसे यह ऊर्जा प्रवाहित होती है। एक्यूपंक्चर की चिकित्सा पद्धति इन्हीं केन्द्रों के उपचार पर आधारित है जिससे इस ऊर्जा प्रवाह को नियमित किया जाता है।

इस सूत्र में ऐसी ही एक नाड़ी का वर्णन किया गया है जिसे 'कूर्म नाड़ी' कहते हैं। यह कछुए के आकार की होती है तथा कण्ठ कूप के नीचे वक्षस्थल में पाई जाती है। यह नाड़ी स्थिरता की सूचक है। जिस प्रकार गतिशील पदार्थ में परिधि घूमती है किन्तु केन्द्र स्थिर रहता है उसी प्रकार चित्त की चंचलता से मन तथा शरीर के अंगों पर उसका प्रभाव होता है किन्तु यह नाड़ी स्थिर, निश्चल रहती है। इसलिए योगी जब इस स्थिर नाड़ी में संयम करता है तो उसका चित्त तथा शरीर स्थिर हो जाते हैं जिससे चित्त की वृत्तियों के निरोध में सहायता मिलती है।

सूत्र—३२

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।

मूर्धज्योतिषि=मूर्धा की ज्योति में (संयम करने से); **सिद्धदर्शनम्**=सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं।

अनुवाद— *मूर्धा (कपाल) ज्योति में संयम करने से सिद्ध महात्माओं का दर्शन होता है।*

व्याख्या—सृष्टि का विकास सूक्ष्म से स्थूल की ओर हुआ है तथा स्थूल का पुनः सूक्ष्म में परिवर्तन हो जाता है। नष्ट कुछ भी नहीं होता, केवल रूपान्तरण होता है। यह भौतिक सृष्टि स्थूल है, इन्द्रिय गोचर है किन्तु इसके पीछे सूक्ष्म जगत् भी है। यही सूक्ष्म जगत् इस स्थूल जगत् का आधार है। मृत्यु के बाद जीव का केवल स्थूल भौतिक शरीर छूटता है किन्तु उसका सूक्ष्म शरीर (एस्ट्रलबॉडी) पुनर्जन्म का समय आने तक सूक्ष्म जगत् में विद्यमान रहता है। इस शरीर के साथ उसका मन, बुद्धि, अहंकार, वासनाएँ सभी कुछ रहती हैं तथा ये ही पुनर्जन्म का कारण बनती हैं। सबीज समाधि को उपलब्ध सभी साधक 'सिद्ध' कहलाते हैं। इन्हें निर्बीज समाधि प्राप्त करने के लिए केवल एक जन्म की और आवश्यकता होती है। इन सिद्धों का जब तक जन्म नहीं होता तब तक ये पृथ्वी और स्वर्गलोक के बीच विचरण करते रहते हैं। इन्हीं को थियोसॉफी में 'मास्टर्स' कहते हैं। ये गुरुओं के भी गुरु होते हैं। पृथ्वी पर जितने आत्मज्ञानी गुरु हैं वे इन्हीं से ज्ञान तथा निर्देश प्राप्त करते हैं, तथा इस पृथ्वी पर जहाँ भी अध्यात्म, सेवा, सदाचरण, धर्म, उपासना, भक्ति आदि के संगठन होते हैं उनको ये परोक्ष रूप से सहायता एवं निर्देश देते रहते हैं। ये सूक्ष्म जगत् में रह कर भी इस स्थूल जगत् की बड़ी सेवा करते हैं। पुराणों में जिन लोकों तथा भुवनों का वर्णन है वे सभी इस सूक्ष्म जगत् के ही हैं किन्तु बुद्धि जीवी इन्हें इस स्थूल जगत् में ढूँढ़ते हैं जिनके न मिलने पर वे कह देते हैं कि ये सब असत्य हैं तथा कई अपनी बुद्धि से इनकी भिन्न एवं प्रतीकात्मक व्याख्या करते हैं। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखा कर इन सूक्ष्म लोकों को ही दिखाया था। मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होने तक सभी प्राणी इन्हीं सूक्ष्म लोकों में निवास करते हैं। अपने-अपने कर्मो के अनुसार ये भिन्न-भिन्न लोकों में रहते हैं जहाँ ये सुख-दुःख का अनुभव करते हैं इसीलिए इनके स्वर्ग, नरक आदि अनेक नाम दिये हैं। जिस प्रकार पृथ्वी पर मनुष्य

स्वतन्त्र पैदा होता है किन्तु उसे घर, परिवार, समाज, शासन आदि की व्यवस्था एवं अनुशासन में रहना पड़ता है, उसे दण्ड एवं पुरस्कार भी मिलता है उसी प्रकार उसे सूक्ष्म जगत् में भी किसी व्यवस्था एवं अनुशासन में रहना पड़ता है। केवल मुक्त पुरुष ही स्वतन्त्र रूप से रहते हैं किन्तु उन्हें भी नियति अर्थात् सृष्टि के नियमों के अधीन रहना ही पड़ता है।

ये सिद्ध महात्मा भी उसी सूक्ष्म जगत् में लम्बे समय तक रहते हैं जिनका दर्शन भी किया जा सकता है। इस सूत्र में बताया गया है कि सिर के कपाल वाले भाग में एक छिद्र है जिसे 'ब्रह्मरन्ध्र' कहते हैं। यहाँ एक प्रकाशमयी ज्योति है जो आत्मा का ही प्रकाश है। इस प्रकाश में संयम करने से उन सिद्ध महात्माओं के दर्शन होते हैं जो सूक्ष्म जगत् में विद्यमान हैं। इस स्थिति में योगी उनका सानिध्य एवं सहयोग भी प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार योगी अन्य लोकों के भी दर्शन कर सकता है। स्वामी मुक्तानन्द जी (गणेशपुरी वाले) ने अपनी पुस्तक 'चित्त शक्ति विलास' में अपने समाधि के अनुभवों में ऐसे कई लोकों एवं सिद्धों के दर्शन के अनुभव लिखे हैं। अन्य योगियों से भी इनके प्रमाण मिलते हैं। थियोसॉफी ने भी इनका सप्रमाण वर्णन किया है। भारत में लिखे गये सभी पुराण एवं अध्यात्म ग्रन्थ इसी प्रकार समाधि में हुए अनुभवों के आधार पर लिखे गये हैं इसलिए ये न तो स्थूल जगत् में विद्यमान हैं न स्थूल बुद्धि इन्हें समझ सकती है। भीतर की ज्ञान ज्योति के प्रकट होने पर ही इनका ज्ञान एवं दर्शन सम्भव है जो उतना ही सत्य है जितना यह स्थूल जगत्।

सूत्र—३३

प्रातिभाद्वा सर्वम्।

वा=अथवा; **प्रातिभात्**=प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से (बिना किसी संयम के ही); **सर्वम्**=(योगी को पहले कही हुई) सारी बातों

का ज्ञान हो जाता है।

अनुवाद— *अथवा नैसर्गिक प्रतिभा से योगी को बिना संयम के सारी बातों का ज्ञान हो जाता है।*

व्याख्या—समाधि अवस्था में चित्त विषय शून्य हो जाता है। उस स्थिति में जब योगी किसी एक पर संयम करता है तो उसे उससे सम्बन्धित समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। यह सिद्धावस्था का एक स्वरूप है जिसमें भिन्न-भिन्न विषयों में संयम करना पड़ता है। इस संयम द्वारा प्राप्त ज्ञान उसकी आगे की कैवल्य साधना के लिए बिल्कुल उपयोगी नहीं है तथा ऐसा साधक इसे निरर्थक ही नहीं बाधक समझ कर छोड़ देता है किन्तु साधना में उसकी गति बढ़ जाने से उसमें 'प्रातिभ ज्ञान' उत्पन्न हो जाता है जिसके प्रकाश में उसे ये सब सिद्धियाँ बिना संयम किये ही प्राप्त हो जाती हैं। यह ज्ञान सूर्य के उदय होने से पूर्व फैले हुए प्रकाश की भाँति होता है जिससे सभी वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं। सूर्य की ही भाँति आत्मज्ञान से पूर्व योगी को उसकी आभा दिखाई देती है। इस ज्ञान रूपी प्रकाश को ही 'प्रातिभ ज्ञान' कहते हैं। यह आत्मज्ञान अथवा पूर्ण विवेक के पूर्व की स्थिति है। यही उसकी नैसर्गिक प्रतिभा है।

सूत्र—३४

हृदये चित्तसंवित्।

हृदये=हृदय में (संयम करने से); **चित्तसंवित्**=चित्त के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

अनुवाद— *हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान हो जाता है।*

व्याख्या—पूर्व में सूत्र ३१ में बतलाया गया है कि इस शरीर में विभिन्न शक्ति केन्द्र हैं जिन्हें 'चक्र' अथवा 'केन्द्र' कहते हैं। प्रत्येक केन्द्र में विभिन्न प्रतिभाएँ छिपी हुई हैं किन्तु उनमें ऊर्जा का प्रवाह धीमा

होने से वे प्रतिभाएँ सुप्तावस्था जैसी प्रतीत होती है। योगी कुण्डलिनी जागरण द्वारा तथा अन्य साधनों से इनमें ऊर्जा का प्रवाह बढ़ाता है। किसी एक केन्द्र पर संयम करने से भी शरीर की सारी ऊर्जा उस ओर प्रवाहित होती है जिससे वह केन्द्र जाग्रत हो उठता है तथा उससे सम्बन्धित सारी प्रतिभा प्रकट हो जाती है। इसलिए योगी को भिन्न-भिन्न केन्द्रों पर संयम करना पड़ता है। शरीर में मुख्य तीन केन्द्र हैं, मस्तिष्क (बुद्धि), हृदय (चित्त) तथा नाभि (अस्तित्व)। मस्तिष्क के पूर्ण सक्रिय होने से बुद्धि सम्बन्धी समस्त प्रतिभा प्रकट हो जाती है। यह बौद्धिक ज्ञान का केन्द्र है। हृदय में संयम करने से ऊर्जा का प्रवाह उसी ओर हो जाता है जिससे यह हृदय कमल जो सुप्त पड़ा है, खिल जाता है। चित्त का सम्बन्ध हृदय से है जिसके खिलने से चित्त तथा उस की वृत्तियों का ज्ञान हो जाता है। कुण्डलिनी, षट्चक्र, ऊर्जा केन्द्र, संयम, षट्चक्र भेदन, विभूतियाँ प्रकट होना, अतीन्द्रिय ज्ञान आदि के बारे में योग की समस्त धारणायें परिकल्पना (हाइपोथेसिस) मात्र नहीं है बल्कि पूर्ण वैज्ञानिक हैं। आवश्यकता है इनको समझने एवं प्रयोग करने की किन्तु यह बाहर का विज्ञान नहीं है। यह भीतर का विज्ञान है जिसकी प्रयोगशाला व्यक्ति स्वयं है।

सूत्र—३५

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुष ज्ञानम्।

सत्त्वपुरुषयोः अत्यन्तासंकीर्णयोः=सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष जो कि दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं (किसी प्रकार भी सम्मिलित होनेवाले नहीं हैं)—इन दोनों की; **प्रत्ययाविशेषः**=जो प्रतीति का अभेद है, वही; **भोगः**=भोग है, (उसमें से); **परार्थात् स्वार्थसंयमात्**=परार्थ-प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है, उसमें

संयम करने से; **पुरुषज्ञानम्**=पुरुष का ज्ञान (होता है)।

अनुवाद— *सत्त्व (प्रकृति) और पुरुष (आत्मा) जो अत्यन्त भिन्न है इन दोनों की प्रतीति का जो अभेद है वही भोग है। उसमें परार्थ प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है उसमें संयम करने से पुरुष (आत्मा) का ज्ञान होता है।*

व्याख्या—योग तथा सांख्य के अनुसार प्रकृति तथा पुरुष (आत्मा) को भिन्न तथा दोनों को अनादि माना गया है। इन दोनों के संयोग से चित्त (महत्तत्व) की उत्पत्ति होती है। इसलिए ये दोनों एक ही हों ऐसा आभास होता है। इस एकता का आभास अविद्या के कारण है तथा यही जन्म आदि सभी दुखों का कारण है। ज्ञान के उदय होने पर दोनों की भिन्नता की प्रतीति हो जाती है तथा दोनों के भिन्न-भिन्न कार्यो एवं गुणों का ज्ञान हो जाता है। उस समय ज्ञानी को यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार के समस्त सुख दुःखादि भोगों का कारण यह प्रकृति ही है। पुरुष इससे सर्वथा भिन्न असंग, निर्दोष तथा भोगासक्ति, वासना आदि से रहित केवल चैतन्य मात्र एवं दृष्टा है। यह प्रकृति ही दृश्य है जिसके हर कार्य को वह देखता मात्र है। वह प्रकृति से संयुक्त होकर सृष्टि का निर्माण तो करता है। फिर भी वह वासना रहित होने से उससे सर्वथा अलिप्त रहता है। यह प्रकृति जड़ है, परिणाम शील है, चंचल है किन्तु पुरुष चेतन है, अपरिणामी है तथा असंग और स्थिर (कूटस्थ) है। अविद्या से दोनों की एकता सी हो रही है तथा इसी एकता की प्रतीति से प्रकृति के कार्यों को ही पुरुष के कार्य समझ लिया जाता है। इसकी ऐसी प्रतीति ही 'अस्मिता' है। इस जड़ प्रकृति में जो चेतनता दिखाई देती है वह इस पुरुष की ही चेतनता है जिससे इसमें नाना प्रकार की वृत्तियों एवं वासनाओं का उदय होता है तथा ऐसा ज्ञात होता है कि प्रकृति के ये गुण उस पुरुष (चैतन्य) के ही गुण हैं। यह अभेद प्रतीति चित्त का ही धर्म है। हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है तथा इस चित्त में

जो अत्यन्त सूक्ष्म है उसमें संयम करने से उसके भीतर जो चेतन तत्व पुरुष विद्यमान है उसका ज्ञान हो जाता है अर्थात् साधक को यह अनुभूति हो जाती है कि प्रकृति और पुरुष दोनों भिन्न हैं तथा उनके स्वभाव भी भिन्न है। यह सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति जन्य ही है तथा पुरुष तत्व उसमें केवल विद्यमान है। उसका अन्य कोई कार्य नहीं है। यह प्रतीति ही अविद्या का नाश है। इस ज्ञान से साधक को 'मैं कौन हूँ?' का उत्तर मिल जाता है कि मैं वही चेतन आत्मा हूँ तथा यह प्रकृति मुझसे भिन्न है जो अज्ञान वश अभिन्न प्रतीत हो रही थी। यह सारी अनुभूति सबीज समाधि में ही होती है। परार्थ प्रतीति का अर्थ 'पुरुष' से है तथा स्वार्थ प्रतीति का अर्थ 'चित्त' से है।

सूत्र—३६

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।

ततः=उस (स्वार्थ-संयम) से; **प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वाद-वार्ताः**=प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता—ये (छः सिद्धियाँ); **जायन्ते**=प्रकट होती हैं।

अनुवाद— *उस (स्वार्थ संयम) से प्रातिभ, श्रावण, वेदन, दर्शन, आस्वाद और वार्ता ये छः सिद्धियाँ प्रकट होती हैं।*

व्याख्या—उस चित्त में (स्वार्थ संयम) संयम करने से पुरुष (आत्मा) के ज्ञान से पूर्व ये छः सिद्धियाँ साधक को प्राप्त हो जाती हैं—'प्रातिभ' ज्ञान के उदय होने से साधक में बिना संयम किये ही सभी सिद्धियाँ आ जाती हैं। साधक में नैसर्गिक प्रतिभा का उदय हो जाता है। अन्य सिद्धियाँ हैं। दिव्य शब्द सुनना, दिव्य स्पर्श का अनुभव होना, दिव्य रूप का दर्शन होना, दिव्य रस का अनुभव होना तथा दिव्य गन्ध का अनुभव होना आदि। यह सारा दिव्य ज्ञान आत्म ज्ञान के समीप पहुँचे योगी को होता है। इनमें मन और इन्द्रियों की रोक नहीं रहती।

सूत्र—३७

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

ते=वे (उक्त छः प्रकार की सिद्धियाँ); **समाधौ**=समाधि की सिद्धि में (पुरुष को ज्ञान प्राप्त करने में); **उपसर्गाः**=विघ्न हैं (और); **व्युत्थाने**=व्युत्थान में; **सिद्धयः**=सिद्धियाँ हैं।

अनुवाद— वे (उक्त सिद्धियाँ) समाधि की सिद्धि में (आत्म-ज्ञान में) विघ्न हैं और व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या—शरीर के विभिन्न केन्द्रों पर जहाँ-जहाँ ऊर्जा का संचार होता है वहाँ उस केन्द्र से सम्बन्धित प्रतिभाएँ प्रकट होती रहती हैं। इन्हीं को 'सिद्धियाँ' कहते हैं क्योंकि इन्हें संयम करके प्राप्त की जाती हैं। अथवा स्वाभाविक रूप से सिद्ध होती है जो साधना के द्वारा अपने आप आती है। ये सिद्धियाँ यह बताती हैं कि साधक की साधना का निरन्तर विकास हो रहा है तथा सुप्त प्रतिभाएँ जाग्रत हो रही हैं। ये साधक की गति का मापदण्ड भी है जिससे उसकी गति तीव्र होती है। ये सिद्धियाँ ऐसे मील के पत्थर हैं जिनसे ज्ञात होता रहता है कि मंजिल कितनी दूरी है इसलिए साधना की गति में ये शुभ लक्षण हैं किन्तु यदि कोई इनसे प्रभावित होकर इन्हीं में अटक जाता है, अथवा इनका उपयोग लोगों को चमत्कार दिखाने में करने लगता है तो वह आगे नहीं बढ़ सकता तथा आत्मज्ञान से वंचित रह जाता है। इसलिए आत्मज्ञान के इच्छुक साधक के लिए ये विघ्न स्वरूप है। इनमें वैराग्य करने से वह आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है।

सूत्र—३८

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।

बन्धकारणशैथिल्यात्=बन्धन के कारण (कर्म) की शिथिलता

से; **च**=और; **प्रचारसंवेदनात्**=चित्त की गति का भलीभाँति ज्ञान होने से; **चित्तस्य**=चित्त का; **परशरीरावेशः**=दूसरे के शरीर में प्रवेश (किया जा सकता है)।

अनुवाद— *बन्धन के कारण (कर्म संस्कार) की शिथिलता से और चित्त की गति का भली-भाँति ज्ञान होने से चित्त का दूसरे के शरीर में प्रवेश किया जा सकता है।*

व्याख्या—प्रत्येक कर्म अपना फल अवश्य देता है। संसार में रहकर जो भी सद्-असद् कर्म किये जाते हैं वे सभी संस्कार रूप में चित्त में विद्यमान रहते हैं जिनके फल को भोगना अनिवार्य है। बिना भोगे इनसे छुटकारा नहीं होता। इसलिये ये कर्म-संस्कार चित्त के बन्धन का कारण हैं। इन्हीं कर्म-संस्कारों से आसक्ति पैदा होती है जिससे हम अपने घर, परिवार, समाज आदि से बँधे रहते हैं, कोई हमें बाँधता नहीं। जब आसक्ति छूट जाती है तो ये कर्म-बंधन शिथिल हो जाते हैं। योगी समाधि की अवस्था में इन कर्म संस्कारों, आसक्ति तथा वासना को जान लेता है तथा निरोध परिणामस्वरूप वह इनकी शक्ति को क्षीण कर देता है। इससे चित्त की शरीर के प्रति जो पकड़ थी वह छूट जाती है तथा चित्त इन बन्धनों से मुक्त हो जाता है। साथ ही योगी को चित्त की गति का भी ज्ञान हो जाता है कि इसका एक शरीर से दूसरे शरीर में किस प्रकार तथा किस मार्ग से प्रवेश होता है। इसके ज्ञान से वह चित्त को अपने शरीर से बाहर निकाल कर शून्य में भ्रमण कर सकता है तथा दूसरे के शरीर में भी प्रवेश कर सकता है जिसे 'परकायाप्रवेश' कहते हैं। ऐसा प्रवेश मृत शरीर में ही सम्भव है जिसकी मृत्यु को अधिक समय न हुआ हो अन्यथा वह शरीर विकृत हो जाता है। शंकराचार्य का राजा सुधन्वा के शरीर में प्रवेश तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु अन्य योगियों के भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं। जब किसी शरीर से चित्त को निकाला जाता है तो उस शरीर की रक्षा करना भी आवश्यक है जिससे वह विकृत

हो। यदि कोई योगी सदा के लिए दूसरे शरीर जो ग्रहण करना चाहता है तो भी इस विधि से कर सकता है। इस प्रकार योगी हजारों वर्षों तक जीवित रह सकता है। 'परकाया प्रवेश' की विधि हठयोग में दी गई है।

सूत्र—३९

उदानजयाज्जलपंककष्टकादिष्वसङ्गउत्क्रान्तिश्च।

उदानजयात्=उदान वायु को जीत लेने से; **जलपङ्क-कण्टकादिषु**=जल, कीचड़, कण्टकादि से; **असङ्गः**=उसके शरीर का संयोग नहीं होता; **च**=और; **उत्क्रान्तिः**=ऊर्ध्वगति भी होती है।

अनुवाद— *उदान वायु को जीत लेने से जल, कीचड़, कंटकादि से उसके शरीर का संयोग नहीं होता और ऊर्ध्व गति भी होती है।*

व्याख्या—शरीर को जीवित रखने के लिए तथा उसे विकृत होने से बचाने के लिए सन्तुलित भोजन, जल तथा वायु की नितान्त आवश्यकता होती है इनमें वायु मुख्य है। वायु में जो हम श्वांस द्वारा शरीर में लेते हैं तथा छोड़ते हैं प्राण तत्व होता है इसलिए वायु को 'प्राण' भी कहा जाता है जो जीवन का आधार है। बिना इसके मनुष्य दस मिनट भी जीवित नहीं रह सकता। यद्यपि शरीर में यह वायु (प्राण) एक ही हैं किन्तु क्रिया भेद तथा स्थान भेद के अनुसार इसके पाँच नाम हैं जो विभिन्न स्थानों पर रहती है तथा इसके कार्य भी भिन्न हैं। ये नाम हैं—

१. **प्राण**—जो वायु मुख तथा नासिका से ली जाती है तथा हृदय तक इसका संचार होता है इसे 'प्राण वायु' कहा जाता है। इन पाँचों में यह मुख्य है। इसका कार्य रक्त शुद्धि कर उसमें से दूषित पदार्थों को बाहर निकालना है।

२. **अपान**—नाभि से लेकर पाद तल तक इसका स्थान है। यह नीचे की ओर गमन करने वाला है। इसी वायु के वेग से मूत्र, विष्ठा, गर्भ आदि नीचे की ओर उतरते हैं।

३. **समान**—इसकी गति सम है तथा इसका स्थान हृदय से नाभि के मध्य है। भोजन के रसों को खींच कर यथा स्थान पहुँचाना इसका कार्य है।

४. **व्यान**—यह समस्त शरीर में व्याप्त रहता हुआ ही विचरता है। इसी से शरीर के विभिन्न भागों में रक्त संचार होता है, शरीर की अशुद्धियों को बाहर निकालना तथा इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को मस्तिष्क तक पहुँचाने तथा मस्तिष्क की सूचना को विभिन्न अंगों तक पहुँचाने का कार्य इसी के माध्यम से होता है जिस प्रकार आकाश में वायु के कारण ही ध्वनि तरंगें एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी जाती हैं।

५. **उदान**—इस वायु की ऊर्ध्व गति होती है। इसका स्थान कण्ठ है तथा यह कण्ठ से सिर तक गमन करने वाला है। इसी के सहारे शरीर की सारी सूचनाएँ मस्तिष्क तक पहुँचती हैं। मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर इसी के सहारे गमन करता है। योगी इसी के सहारे समस्त प्राणों को खींच कर उन्हें सहस्रार तक पहुँचाता है जिससे उसे अनेक अनुभूतियाँ होती हैं। कुण्डलिनी जागरण से भी ऊर्जा का प्रवाह इसके द्वारा मस्तिष्क तक होता है जिससे मस्तिष्क का सुप्त भाग जाग्रत होता है। इसका आध्यात्मिक उपयोग है इसलिए यह सबसे महत्वपूर्ण है। योगी इस पर विजय प्राप्त कर लेता है जिससे वह इसके प्रवाह को नियन्त्रित कर सकता है। इस वायु के नियन्त्रण से वह अपने शरीर को इतना हल्का कर लेता है कि पानी कीचड़ तथा काँटों पर भी चल सकता है उसके शरीर का सम्पर्क उनसे नहीं होता। इस वायु को जीत लेने से मृत्यु के समय वह अपने प्राणों को शरीर के अन्य भागों से खींचकर उन्हें ऊपर की ओर ब्रह्मरन्ध्र से स्वेच्छा से निकाल लेता है अन्य

शरीर के किसी भी मार्ग से निकल जाते हैं। अन्य मार्गों से निकलना जीव की अधोगति मानी जाती है। ब्रह्मरन्ध्र से निकलने पर योगी की शुक्ल मार्ग से गति होती है। यह उसकी उत्थान अवस्था है। शरीर के किस भाग से प्राण निकले हैं इससे अगले जन्म का संकेत भी मिल जाता है। जीवन में जो केन्द्र अधिक सक्रिय होता है तथा जिस ओर वासना सबसे अधिक होती है उसी मार्ग से प्राण निकलते हैं तथा उसी के आधार पर अगला जन्म निश्चित किया जा सकता है कि वह कैसा होगा?

सूत्र—४०

समानजयाज्ज्वलनम्।

समानजयात्=(संयम द्वारा) समान वायु को जीत लेने से; **ज्वलनम्**=(योगी का शरीर) दीप्तिमान् हो जाता है।

अनुवाद— *(संयम द्वारा) समान वायु को जीत लेने से योगी का शरीर दीप्तिमान हो जाता है।*

व्याख्या—समान वायु हृदय से नाभि के मध्य पाई जाती है। इसकी गति सम है। यह भोजन से रसों को खींच कर यथा स्थान पहुँचाती है। जब योगी इस वायु पर विजय प्राप्त कर लेता है तो इससे उसकी पाचन शक्ति तीव्र हो जाती है तथा भोजन से यह अधिक रसों को खींच सकता है जिससे कम भोजन से ही उसका निर्वाह हो जाता है एवं रसों की अधिकता से उसका शरीर देदीप्यमान हो जाता है। उसके चेहरे पर तेज झलकने लग जाता है तथा शरीर पुष्ट एवं दीप्तिमान हो जाता है। नियमित रूप से ध्यान, प्राणायाम, ईश्वर उपासना आदि करने वालों के चेहरे पर ऐसा तेज स्वाभाविक रूप से देखा जा सकता है। योगी का चेहरा इससे भी अधिक तेजस्वी हो जाता है क्योंकि उसके

शरीर के सभी विकार नष्ट हो जाते हैं

सूत्र—४१

श्रोत्राऽकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।

श्रोत्राकाशयोः=श्रोत्र (कान) और आकाश के; **सम्बन्धसंयमात्**=सम्बन्ध में संयम कर लेने से (योगी के); **श्रोत्रम्**=श्रोत्र; **दिव्यम्**=दिव्य हो जाते हैं।

अनुवाद—*श्रोत (कान) और आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने से योगी के श्रोत दिव्य हो जाते हैं।*

व्याख्या—आकाश सर्वव्यापी है तथा शब्द इसका गुण है। शब्द तन्मात्रा से ही इसकी उत्पत्ति हुई है। ध्वनि तरंगों के ज्ञान के लिए श्रोत-इन्द्रिय का विकास हुआ। शब्द की ध्वनि तरंगें आकाश के माध्यम से ही कानों तक पहुँचती हैं। ब्रह्माण्ड की अनेक ध्वनियाँ आकाश में विद्यमान हैं। ये सब मिश्रित हो जाने तथा अति सूक्ष्म हो जाने से सुनाई नहीं देतीं न इन्हें पहचाना जा सकता है। जिस प्रकार दस-पचास व्यक्ति एक साथ बोलें तो प्रत्येक के शब्द को पहचानना कठिन हो जाता है। किन्तु यदि किसी एक की ओर ही ध्यान दिया जाय तो अन्यों की आवाजें नहीं सुनाई देतीं तथा उस एक की ही आवाज सुन सकते हैं। आकाश तथा ध्वनि के गुणों के आधार पर ही रेडियो, बेतार के तार आदि का विकास हुआ। इसी आधार पर योगी भी आकाश और श्रोत के सम्बन्ध में संयम कर लेता है तो उसे वही शब्द सुनाई देता है जिसे वह सुनना चाहता है। इस संयम द्वारा उसके श्रोत इतने दिव्य शक्तियुक्त हो जाते हैं कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा सुदूर की ध्वनि भी सुन सकता है। आकाश, शब्द और श्रोत तीनों की एकता है। योगी संयम द्वारा इनको प्रत्यक्ष करता है जबकि विज्ञान ने विभिन्न यन्त्रों द्वारा इसे प्रत्यक्ष किया है जिससे उसने रेडियो, टेलीविजन, बेतार का तार आदि यन्त्रों का विकास किया है। पर

विकास इसी आकाश तथा शब्द गुण के आधार पर हुआ। योग की मान्यतानुसार ध्वनि की ही नहीं मन में सोचे गए विचारों की भी तरंगें उठती हैं जो आकाश में व्याप्त हो जाती हैं तथा यदि कोई व्यक्ति उनमें संयम कर लेता है तो वह दूसरे के भावों एवं विचारों को भी पढ़ सकता है। यदि कोई व्यक्ति ग्राहक की स्थिति में होता है तो अनायास ही ये विचार तरंगें उसमें प्रविष्ट हो जाती हैं जिससे उसके मानस पर इसका प्रभाव पड़ता है। यदि किसी के मन में हत्या के विचार पैदा हुए तो आवश्यक नहीं कि वही हत्या करे। उन विचार तरंगों को दूसरा ग्रहण करके वह भी हत्या कर सकता है। इसीलिए अध्यात्म में सदा से मन की पवित्रता, सद्विचार रखना तथा हर समय दूसरे के मंगल की कामना करने को विशेष महत्व दिया है। बुरे तथा अनिष्टकारी विचार रखने वाला अपना तो अहित करता ही रहा है वह दूसरे का भी अहित कर रहा है। संसार में जितना भी दुराचार, अनाचार, अत्याचार, हत्याएँ, चोरी आदि हो रही हैं उनके लिए वे ही दोषी नहीं हैं जो इन्हें कर रहे हैं बल्कि वे भी दोषी हैं जो ऐसा करने के विचार देते हैं। किन्तु अध्यात्म के अनुसार वे सबसे अधिक दोषी हैं जो ऐसे विचार रखते हैं। क्योंकि प्रथम दो तो पकड़े भी जाते हैं किन्तु ये तीसरे प्रकार के पकड़े भी नहीं जा सकते। ये परोक्ष रूप से निर्बाध गति से दुनिया को विकृत करने में अपना सहयोग दे रहे हैं। संतों के समीप बैठने में इसी कारण से शान्ति की अनुभूति होती है कि वे हमेशा सद्विचारों की तरंगें ही छोड़ते हैं। इन विचार तरंगों पर विज्ञान भी कई प्रयोग कर रहा है। पाश्चात्य देशों में भी इसके अनेक प्रयोग चल रहे हैं। टेलीपैथी भी इसी का एक प्रयोग है। साधारण व्यक्ति भी थोड़े ध्यान की स्थिति में ही इन विभिन्न शब्दों को सुन सकता है तथा कान बन्द करके बाहर की ध्वनि को रोक कर वह भीतर की ध्वनि को भी सुन सकता है। अध्यात्म में चोरी, हत्या आदि करना बड़ा पाप नहीं है, क्योंकि उसकी सजा इसी जन्म में मिल

जाती है जिससे व्यक्ति उसे भोग कर उससे मुक्त हो जाता है। ये बुरे कर्म आवश्यक नहीं कि स्थाई बुरे विचार का ही परिणाम हो। ये आकस्मिक, तीव्र संवेदना से किसी के भड़काने पर, अहंकार पर चोट पड़ने से, क्षणिक आवेश एवं उत्तेजना आदि अनेक कारणों से हो सकते हैं जिससे वह व्यक्ति स्थाई रूप से पापी नहीं कहा जा सकता। वह सामाजिक दृष्टि से अपराधी मात्र है। किन्तु बुरे विचार वाला स्थाई रूप से पापी है तथा उसका फल वह अनेक जन्मों तक भोगता रहता है क्योंकि जब तक बुरे विचार नष्ट नहीं होंगे तब तक वह हर जन्म में बुरे कर्म करता ही रहेगा तथा उसका चित्त निर्मल नहीं होने से उसकी मुक्ति की संभावना ही समाप्त हो जाती है। कहावत है 'चोर को नहीं चोर की माँ को मारना है जिससे चोर उत्पन्न ही न हो।' समस्त दुराचारों, अत्याचारों आदि की एक ही माँ है उसके विचार। इसको मारने से ही ये अपराध समाप्त हो सकते हैं। इसलिये अध्यात्म का पूरा जोर कर्म एवं आचरण पर नहीं बल्कि विचारों पर है क्योंकि विचार ही कर्मों की जननी है।

सूत्र—४२

कायाऽकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।

कायाऽकाशयोः=शरीर और आकाश के; **सम्बन्ध-संयमात्**=सम्बन्ध में संयम करने से; **च**=और; **लघुतूलसमापत्तेः**=हल्की वस्तु (रूई आदि) में संयम करने से; **आकाशगमनम्**=आकाश में चलने की शक्ति आ जाती है।

अनुवाद— *शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से और हल्की वस्तु में संयम करने से आकाश में चलने की शक्ति आ जाती है।*

व्याख्या—जिस प्रकार किसी यान की मशीनरी का पूर्ण ज्ञान हो जाने से वह चालक के हाथ में खिलौने जैसा हो जाता है उसी प्रकार

योगी को इस शरीर की सम्पूर्ण रचना तथा क्रिया प्रणाली का ज्ञान हो जाने से वह उसके हाथ में खिलौने जैसा हो जाता है। वह उसका जैसा चाहे रूप दे सकता है जैसा कि इन सभी विभूतियों (सिद्धियों) द्वारा ज्ञात होता है। योगी के लिए यह शरीर यन्त्र से अधिक नहीं है। योगी यह जानता है कि सूक्ष्म से स्थूल का निर्माण किस प्रकार हुआ तथा यह स्थूल किस प्रकार पुनः सूक्ष्म में परिवर्तित किया जा सकता है। इसी आधार पर योगी शरीर तथा आकाश में संयम करके शरीर को भारहीन कर देता है जिससे वह इस गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से मुक्त होकर आकाश मार्ग से गमन करता हुआ कहीं भी जा सकता है। वह संकल्प द्वारा भी रुई के समान किसी हल्की वस्तु में संयम करके अपने शरीर को इतना हल्का बना लेता है कि वह वायु में उड़ सकता है। संकल्प शक्ति पर वैज्ञानिकों ने भी अनेक सफल परीक्षण किये हैं। शरीर को हल्का तथा भार हीन अन्य भी कई विधियों से किया जा सकता है किन्तु यह सारा विषय अध्यात्म से ही सम्बन्धित है।

सूत्र—४३

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।

बहिरकल्पिता=शरीर के बाहर अकल्पित; **वृत्तिः**=स्थिति का नाम; **महाविदेहा**=महाविदेहा है; **ततः**=उस; **प्रकाशावरणक्षयः**=बुद्धि की ज्ञानशक्ति के आवरण का क्षय हो जाता है।

अनुवाद—*शरीर के बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महाविदेहा है उससे ज्ञान के आवरण का नाश हो जाता है।*

व्याख्या—यह चित्त अपने कर्म संस्कारों के कारण शरीर के साथ बंधा हुआ है तथा इसी में रह कर अपनी समस्त वृत्तियों का फैलाव करता है। यदि वह इस शरीर से बाहर भावना अथवा कल्पना मात्र से अपनी स्थिति बना लेता है तो उसे 'कल्पित' कहते हैं किन्तु

यदि इस शरीर से सम्बन्ध छोड़कर चित्त की बाहर स्थिर स्थिति हो जाती है तो उसे 'अकल्पित' कहते हैं। यह अकल्पित स्थिति कल्पित स्थिति के आधार पर ही बनती है। साधक पहले अपने को इस शरीर से अलग किसी अन्य स्थान पर रहने की कल्पना करता है। कि मैं यह शरीर नहीं हूँ, मैं किसी वृक्ष पर बैठा हूँ, या मैं बाजार में घूम रहा हूँ, मैं अमुक व्यक्ति से मिल कर बातचीत कर रहा हूँ आदि के द्वारा अपनी स्थिति की अन्यत्र कल्पना करता है। धीरे-धीरे यह धारण दृढ़ होकर वह निश्चित ही अपने शरीर से अलग हो जाता है तथा पास में खड़े होकर अपने शरीर को अलग देखने लगता है। यह 'अकल्पित' स्थिति है। यदि सोते समय शरीर को शिथिल छोड़कर नित्य शरीर से भिन्न अपने को समझकर उसके समीप खड़े होकर अपने ही शरीर को देखने की कल्पना की जाय, तो एक माह में वह निश्चित ही अपने शरीर से अलग होकर उसे देख सकता है। इस प्रकार अपने को शरीर से अलग करने से उसे अपने शरीर का मोह छूट जाता है तथा उससे वैराग्य हो जाता है कि इस शरीर से मैं भिन्न हूँ। यह शरीर मेरा नहीं है। इस स्थिति को 'महाविदेहा' कहते हैं। इस प्रयोग से योगी के ज्ञान रूपी प्रकाश का आवरण (अज्ञान) हट जाता है जिससे ज्ञान का प्रकाश प्रकट हो जाता है। यदि कोई साधक 'योग निद्रा' का अभ्यास करता है तो उसे आरम्भ में यह अभ्यास करना चाहिए। इससे मन की चंचलता हटकर ध्यान में गति शीघ्र होती है।

सूत्र—४४

स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात्=(भूतों की) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व—इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से (योगी को); **भूतजयः**=पाँचों भूतों पर विजय

प्राप्त हो जाती है।

अनुवाद— भूतों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थ तत्व इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से योगी को पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—योग की मान्यतानुसार इस समस्त सृष्टि का निर्माण प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से हुआ है। यह संयोग अविद्या जनित है। योगी में साधना द्वारा जब ज्ञान के प्रकाश का उदय हो जाता है तो यह अविद्या रूपी अज्ञान का आवरण हट जाता है जिससे उस ज्ञान ज्योति द्वारा वह पुरुष और प्रकृति का भेद जान लेता है तथा प्रकृति से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर उस पुरुष के साथ अपनें को तदाकार कर लेता है जो उसकी अन्तिम उपलब्धि है। प्रकृति को सम्पूर्ण रूप से जानने के लिए वह उसके स्थूल से लेकर सभी सूक्ष्म रूपों में संयम करता है जिससे उसका इस प्रकृति पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। यही उसकी भूतों पर विजय है।

सृष्टि का निर्माण पांच महाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी) से हुआ है। ये पंच महाभूत इनकी स्थूल अवस्था है जो दृश्य है तथा इन्द्रियों से इनका अनुभव किया जा सकता है किन्तु इनका निर्माण सूक्ष्म तत्वों से हुआ है जिनकी प्रत्येक की पाँच-पाँच अवस्थाएँ हैं जिनसे गुजर कर ये स्थूल रूप में आये हैं।

१. **स्थूल अवस्था**—उपर्युक्त पाँच महाभूत जो दृश्य हैं तथा जिनका अनुभव इन्द्रियों से किया जा सकता है यह इनकी 'स्थूल अवस्था' है।

२. **स्वरूपावस्था**—इन पाँचों भूतों के जो लक्षण हैं वे इनका स्वरूप हैं जैसे पृथ्वी का ठोसपन, स्थिरता, जल का गीलापन, तरलता, अग्नि की उष्णता, प्रकाश, वायु की गति, कम्पन तथा आकाश का अवकाश। ये इनकी 'स्वरूपावस्था' है।

३. **सूक्ष्मावस्था**—इन भूतों की तीसरी अवस्था 'सूक्ष्मावस्था' है जो इन सबका कारण है। इन्हें तन्मात्राएँ अथवा 'सूक्ष्म महाभूत' भी कहते हैं। ये हैं आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस तथा पृथ्वी की गन्ध।

४. **अन्वय अवस्था**—इन पाँचों भूतों की सूक्ष्मावस्था से भी अधिक सूक्ष्म इनकी 'अन्वय अवस्था' है। सृष्टि के आरम्भ से पूर्व यह प्रकृति अपने त्रिगुणात्मक स्वरूप (सत्व, रज, तम) में विद्यमान थी। ये तीनों गुण अपनी साम्यावस्था में थे। इन तीनों गुणों के भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं। सत्त्वगुण का स्वभाव प्रकाश अथवा ज्ञान है, रजोगुण का स्वभाव क्रिया तथा हलचल है तथा तमोगुण का स्वभाव स्थिति तथा जड़ता है। ये तीनों गुण प्रकृति में सदा व्याप्त रहते हैं। पाँचों स्थूल भूतों की यही सबसे सूक्ष्म अवस्था इसकी 'अन्वय अवस्था' है जो समस्त प्रकृति का कारण है तथा सृष्टि इसका परिणाम है। इस प्रकृति के साथ जब पुरुष (चेतना) का संयोग होता है तब इसमें क्रिया एवं हलचल होती है जिससे सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। 'पुरुष' के संयोग से पूर्व यह 'अव्यक्त' अथवा 'अलिंग' अवस्था में रहती है किन्तु इस संयोग के बाद 'महत्तत्व' की उत्पत्ति होती है जो इसकी 'लिंग अवस्था' है। इसके बाद अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, सूक्ष्म भूत तथा स्थूल भूतों का निर्माण होता है। इनमें वह 'चेतन पुरुष' सदा व्याप्त रहता है।

५. **अर्थवत्त्व अवस्था**—इस समस्त प्रकृति का प्रयोजन जीवात्मा को वासना के कारण भोग प्रदान करना तथा इससे वैराग्य होने पर उसे मुक्ति प्रदान करना है। जीवात्मा की मुक्ति का कार्य पूर्ण हो जाने पर प्रकृति अपने कारण में विलीन हो जाती है

क्योंकि फिर उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। यह इसकी पाँचवीं 'अर्थवत्त्व अवस्था' है।

योगी स्थूल भूतों के इन पाँचों अवस्थाओं में संयम करके सम्पूर्ण प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेता है जिससे यह प्रकृति उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती तथा योगी इसके प्रभाव से मुक्त होकर स्वचेतना में स्थित हो जाता है। यही उसकी भूतों पर विजय है।

सूत्र—४५

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।

ततः=उस (भूतजय) से; **अणिमादिप्रादुर्भावः**=अणिमादि आठ सिद्धियों का प्रकट हो जाना; **कायसम्पत्**=कायसम्पत् की प्राप्ति; **च**=और; **तद्धर्मानभिघातः**=उन भूतों के धर्मों से बाधा न होना—(ये तीनों होते हैं)।

***अनुवाद**—उस भूत जय से अणिमादि आठ सिद्धियों का प्रकट हो जाना, कायासम्पत् की प्राप्ति और उन भूतों के धर्मो से बाधा न होना ये तीनों होते हैं।*

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्र के अनुसार जब योगी इन समस्त भूतों पर विजय प्राप्त कर लेता है तो इनका प्रभाव उसके ऊपर नहीं पड़ता। उसका शरीर, मन आदि उसके सम्पूर्ण प्रभावों से मुक्त हो जाता है जिससे उसे आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जिन्हें 'अष्ट सिद्धि' कहते हैं तथा इनके साथ ही उसे 'काया सम्पत्' की भी प्राप्ति होती है एवं इन भूतों के धर्मो से उसे बाधा उत्पन्न नहीं होती। ये अष्ट सिद्धियाँ हैं—

१. **अणिमा**—अपने शरीर को अत्यन्त सूक्ष्म बना लेना।
२. **लघिमा**—अपने शरीर को हल्का बना लेना जिससे उसमें आकाश गमन की शक्ति आ जाती है।

३. **महिमा**—अपने शरीर को बड़ा बना लेना।

४ **गरिमा**—अपने शरीर को अत्यन्त भारी कर लेना जिससे वह किसी के उठाये न उठे।

५. **प्राप्ति**—किसी भी भौतिक पदार्थ को संकल्प मात्र से प्राप्त कर लेना, शून्य से वस्तुएँ प्राप्त करना।

६. **प्राकाम्य**—संकल्प मात्र से अपनी इच्छाओं की पूर्ति हो जाना, भौतिक पदार्थों का अनायास ही प्राप्त हो जाना।

७. **वशित्व**—पाँचों भूत तथा सभी प्राणी वश में हो जाना। उनसे जैसा चाहे कार्य लिया जा सकता है।

८. **ईशित्व**—भौतिक पदार्थों को नाना रूपों में उत्पन्न करने की तथा उन पर शासन करने की सामर्थ्य का आना।

इन सिद्धियों के अलावा 'काया सम्पत्' (शरीर की सम्पदाएँ) की भी उपलब्धि होती है जिसे अगले सूत्र में बताया गया है तथा भूतों के धर्म उस योगी के मार्ग में रुकावट पैदा नहीं कर सकते अर्थात् वह जमीन में देख सकता है, उसमें प्रवेश कर सकता है, उसके शरीर पर सर्दी, गर्मी, वर्षा, जल, अग्नि, वायु आदि का प्रभाव नहीं होता। ये सारी सिद्धियाँ उसके पूर्ण एकाग्रता के साथ किये गए संकल्प से आती हैं। मन एवं संकल्प शक्ति पर विज्ञान ने भी कई प्रयोग किये हैं तथा जिन्हें सिद्धियाँ प्राप्त हैं वे भी ऐसे प्रदर्शन करते हैं किन्तु अध्यात्म में इनका प्रदर्शन एवं उपयोग वर्जित है। सृष्टि की रचना एवं उसकी कार्य प्रणाली में व्यवधान डालना उचित नहीं है क्योंकि इसकी जो प्रतिक्रिया होती है उसका परिणाम योगी को भुगतना पड़ता है क्योंकि योगी किसी भी प्रकार से उस सृष्टा का स्थान नहीं ले सकता तथा ऐसे प्रदर्शनों से उसकी प्राप्त शक्ति का अत्यधिक क्षय हो जाता है जिसे उसने बड़े श्रम से प्राप्त किया है।

सूत्र—४६

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि=रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान संगठन—ये; **कायसम्पत्**=शरीर की सम्पदाएँ हैं।

अनुवाद— *रूप, लावण्य (सुन्दरता), बल और वज्र के समान शरीर की रचना, ये शरीर की सम्पदाएँ हैं।*

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्र में बताया गया है कि योगी को 'काय सम्पत्' की सिद्धि होती है। शरीर की सम्पदा है उसका अत्यन्त सुन्दर तथा सुदृढ़ होना, समस्त अंगों में तेज का होना, शक्तिशाली होना तथा वज्र की भाँति दृढ़ होना आदि जो योगी को प्राप्त होती है। यह सब इसलिए हो जाता है कि शरीर के समस्त संस्थान एवं मन योग साधना से मल रहित हो जाते हैं तथा उनमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं रह जाता। शारीरिक एवं मानसिक विकारों के कारण ही शरीर क्षीण होता है।

सूत्र—४७

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात्=ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व—इन पाँचों अवस्थाओं में संयम करने से; **इन्द्रियजयः**=मनसहित समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

अनुवाद— *ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व आदि पंचेन्द्रियों की अवस्थाओं में संयम करने से इन्द्रिय जय होता है।*

व्याख्या—जिस प्रकार भूतों की पाँच अवस्थायें हैं उसी प्रकार इन दस इन्द्रियों तथा मन की भी पाँच-पाँच अवस्थाएँ हैं। इन पाँचों

अवस्थाओं में क्रम से संयम करने से साधक इन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। फिर ये इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से कार्य न करके योगी की इच्छानुसार कार्य करती हैं जिस से इन्हें भोगों की ओर से हटाकर मुक्ति की ओर लगाया जा सकता है। इनके पाँच स्वरूप हैं—

१. **ग्रहण**—इन्द्रियों तथा मन की सबसे स्थूल अवस्था है, उनसे सम्बन्धित विषयों को ग्रहण करना। इन विषयों से सम्बन्धित उनकी जो वृत्ति है जैसे देखना, सुनना, सूँघना, चखना, स्पर्श करना, बोलना वस्तु ग्रहण करना, चलना, मल त्याग करना तथा प्रजार्थ आनन्द प्राप्त करना ये इन दस इन्द्रियों के विषय हैं। मन का विषय संकल्प विकल्प है। जब ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त रहती हैं तो इसे इनकी 'ग्रहण अवस्था' कहते हैं। यह इसकी स्थूल क्रिया अवस्था है जिनसे वे कर्म में प्रवृत्त होती हैं।

२. **स्वरूप**—इन्द्रियों का स्थूल कार्य उसका ग्रहण करना है किन्तु उनका वास्तविक स्वरूप संकेत अथवा उनके लक्षणों से ही जाना जाता है जो इनका स्वाभाविक स्वरूप है। इसे ही इन्द्रियों के सक्रिय होने का कारण माना जाता है।

३. **अस्मिता**—यह मन तथा इन्द्रियों की सूक्ष्म अवस्था है। यह अस्मिता अर्थात् 'मैं पन' ही इन सबका कारण है। इस 'मैं पन' (अहंकार) से ही मन तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है।

४. **अन्वय**—यह इनकी चौथी अवस्था है जो अस्मिता से भी अधिक सूक्ष्म है। तीन गुणों से युक्त प्रकृति है। प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति जिनका स्वभाव है ये इन सब इन्द्रियों में व्याप्त है क्योंकि इसी प्रकृति से चित्त की तथा चित्त से अहंकार एवं अहंकार से इन इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है। इसलिए प्रकृति के इन गुणों वाली अवस्था को ही इन्द्रियों की 'अन्वय अवस्था'

कहते हैं। इन्द्रियाँ इसी स्वभाव के अनुसार कार्य करती हैं।

५. **अर्थवत्त्व**—यह इन्द्रियों की पाँचवीं अवस्था है। 'अर्थवत्त्व' का अर्थ इनकी प्रयोजनता है कि ये समस्त इन्द्रियाँ तथा मन किस प्रयोजन से कार्यशील हैं। इनका प्रयोजन अथवा सार्थकता इस जीवात्मा को भोग तथा मुक्ति प्रदान करना है। ये ही इन्द्रियाँ वासना ग्रस्त होकर जीव के भोग का साधन बनती हैं तो ये इनसे वैराग्य करके आत्मा की ओर अभिमुख होकर उस जीव को मुक्ति भी प्रदान करती है। यही इनका अर्थवत्त्व है।

सूत्र—४८

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।

ततः=उस (इन्द्रियजय) से; **मनोजवित्वम्**=मन के सदृश गति; **विकरणभावः**=शरीर के बिना भी विषयों का अनुभव करने की शक्ति; **च**=और; **प्रधानजयः**=प्रकृति पर अधिकार—ये तीनों सिद्धियाँ मिलती हैं।

अनुवाद— *उस इन्द्रिय जय से मन की तरह शरीर वेग वाला होता है, शरीर के बिना भी विषयों का अनुभव करने की शक्ति और प्रकृति पर अधिकार होता है।*

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्र के अनुसार जब साधक इन ग्यारह इन्द्रियों की पाँचों अवस्थाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसे निम्न तीन प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

१. शरीर स्थूल है जिससे उसकी गति कम है। मन सूक्ष्म है जिसकी गति सर्वाधिक है। वह एक ही क्षण में कहाँ-कहाँ पहुँच जाता है इसका अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। किन्तु जब योगी मन तथा इन्द्रियों की 'ग्रहण अवस्था' में संयम कर लेता है तो वह अपने शरीर को भी उतना ही वेगवान बना लेता

है जितना उसका मन है। वह क्षण भर में अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा कहीं भी जा सकता है तथा पुनः लौट सकता है। कई योगियों के ऐसे उदाहरण सुनने में आते हैं। इसे 'मनोजवित्व' कहते हैं।

२. जब योगी इन इन्द्रियों की 'स्वरूपावस्था' में संयम कर लेता है तो उससे जो सिद्धि उसे प्राप्त होती है उसे 'विकरण भाव' कहते हैं। इस सिद्धि द्वारा स्थूल शरीर के बिना ही दूर देश की किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। सूत्र ४३ में बताई गई 'महाविदेहा' स्थिति आ जाने से भी यही सिद्धि आ जाती है। ऐसा वह सूक्ष्म शरीर द्वारा ही करता है।

३. तीसरी सिद्धि है 'प्रधान जय'। प्रकृति को प्रधान भी कहा जाता है। इन्द्रियों की अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्त्व अवस्था में संयम करने से योगी इस कार्य-कारण रूप प्रकृति पर पूर्ण अधिकार कर लेता है। यह प्रकृति जयावस्था है। इसके बाद निर्बीज समाधि सिद्ध होती है।

सूत्र—४९

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य=बुद्धि और पुरुष—इन दोनों की भिन्नता मात्र का ही जिसमें ज्ञान रहता है, ऐसी सबीज समाधि को प्राप्त योगी का; **सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्**=सब भावों पर स्वामिभाव; **च**=और; **सर्वज्ञातृत्वम्**=सर्वज्ञ भाव हो जाता है।

अनुवाद— *प्रकृति और पुरुष के भेद को जानने वाले योगी का (ऐसे सबीज समाधि को प्राप्त योगी) सब भावों पर स्वामिभाव और सर्वज्ञ भाव हो जाता है।*

व्याख्या—इस प्रकार इन्द्रिय जय द्वारा योगी जब इस प्रकृति पर

पूर्ण अधिकार कर लेता है तो उसे इस प्रकृति और पुरुष (आत्मा) की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। इस अवस्था में प्रकृति के रजोगुण तथा तमोगुण सम्बन्धी समस्त संस्कार धुल जाते हैं तथा मात्र सतोगुण के संस्कार शेष रह जाते हैं। इसी संस्कार से वह 'पुरुष' का अनुभव करता है तथा प्रकृति को उससे भिन्न मानने लगता है। यही उसका 'विवेक ज्ञान' कहलाता है। इस स्थिति में पहुँचे योगी को प्रकृति के सभी भावों पर स्वामिभाव हो जाता है जिससे वह उसका अपनी इच्छानुसार उपयोग उपभोग कर सकता है। साथ ही उसे इस प्रकृति की संरचना एवं काल का भी ज्ञान हो जाता है जिससे वह अनागत, उदित और शान्त तीनों प्रकार के प्रकृति के धर्मों को जान लेता है। इस ज्ञान के द्वारा वह अपने भूत, वर्तमान तथा भविष्य की अवस्थाओं को भी जान लेता है। यही उस योगी का 'सर्वज्ञ' भाव है। योगी की यह अवस्था सबीज समाधि की है।

सूत्र—५०

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

तद्वैराग्यात् अपि=उस (उपर्युक्त सिद्धि) में भी वैराग्य होने से; **दोषबीजक्षये**=दोष के बीज का नाश हो जाने पर; **कैवल्यम्**=कैवल्य की प्राप्ति होती है।

अनुवाद— *उसमें भी वैराग्य होने से दोष के बीज का नाश हो जाने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है।*

व्याख्या—योगी की यह प्रकृति-जय की उपलब्धि इतनी महान है कि अधिकांश साधक यहीं पहुँचकर इसके आकर्षण के कारण रुक जाते हैं जिससे उनको कैवल्य लाभ नहीं हो पाता। साधना के आरम्भ से ही उन्हें सिद्धियाँ मिलनी आरम्भ हो जाती हैं तथा ये सबीज समाधि तक निरन्तर बढ़ती जाती है। जिससे योगी किसी-न-किसी स्तर पर चलायमान हो जाता है। योग मार्ग में ये सिद्धियाँ ही सबसे बड़ी बाधा बन जाती हैं।

इसलिए योग मार्ग द्वारा बहुत कम लोग कैवल्य अवस्था को उपलब्ध होते हैं। इस प्रकृति जय के बाद योगी को विवेक ज्ञान द्वारा इस प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है तथा उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि इनका संयोग अविद्या के कारण ही हुआ है तो वह इन सिद्धियों में वैराग्य करके इस प्रकृति को अपने कारण में विलीन कर देता है जिससे वह उस असंग, निर्विकार, कूटस्थ, आनन्दमय तथा चेतन स्वरूप आत्मा (पुरुष) को उपलब्ध हो जाता है तथा यह प्रकृति जो उसी के गुणों तथा कार्यों के रूप में उसके साथ संयुक्त थी, सदा बदलने वाली, जड़ तथा दुःखों का कारण थी सदा के लिए अलग हो जाती है तो उसके दोषों के बीज रूप इस वृत्ति का सर्वथा निरोध हो जाता है। इसी को 'निर्बीज समाधि' कहते हैं। इसी से उसे कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा योगी अपने स्वरूप (आत्मा) में स्थित हो जाता है। प्रकृति सगुण है इससे वियोग होने पर वह निर्गुण स्वरूप ही शेष रह जाता है। पहले पाद में कहा गया है कि 'चित्त की वृत्तियों' का निरोध ही योग है वह निरोध यहाँ आकर पूर्ण हो जाता है तथा जीव इसी अवस्था में पहुँचकर स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

सूत्र—५१

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

स्थान्युपनिमन्त्रणे=लोकपाल देवताओं के बुलाने पर; **सङ्गस्मयाकरणम्**=न तो (उनके भोगों में) सङ्ग (राग) करना चाहिये और न अभिमान करना चाहिये; **पुनरनिष्टप्रसङ्गात्**=क्योंकि ऐसा करने से पुनः अनिष्ट होना सम्भव है।

अनुवाद— *लोकपाल देवताओं के बुलाने पर न तो संग करना चाहिए न अभिमान ही करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से पुनः अनिष्ट होना सम्भव है।*

व्याख्या—योग मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है शक्ति का एकत्र होना। वह शारीरिक ऊर्जा जिसका विभिन्न कार्यों एवं वृत्तियों के कारण क्षरण हो रहा था उसका केन्द्रित होना आरम्भ हो जाता है जिससे उसकी क्षमता कई गुना बढ़ जाती है। इसी से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। योगी जब इस प्रकृति जय की अन्तिम स्थिति में पहुँचता है तो उसे लोकपाल देवताओं के दर्शन भी होते हैं। ये देवता उसकी अत्यन्त प्रशंसा करते हैं तथा अपने लोक में आने का आमंत्रण देते हैं। वे कई प्रकार के प्रलोभन भी देते हैं। इससे पूर्व कई पैशाचिक शक्तियां भी उसके कार्य में विघ्न पैदा करती हैं जिससे वह पथ भ्रष्ट हो जाए। देवता भी उसकी तपस्या को भंग करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा अनुभव जीसस, बुद्ध आदि को भी हुआ। ऋषि मुनियों की तपस्या भंग करने के लिए देवताओं ने अप्सरायें भेजीं, ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं। ऐसी स्थिति में मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक साधक को इन प्रलोभनों में नहीं आना चाहिए तथा अपनी इस उपलब्धि पर गर्व भी नहीं करना चाहिए वरना उसका सारा प्रयत्न विफल हो जाता है। देव योनि भी भोग योनि ही है। उन भोगों का क्षय होने पर उन्हें पुनः जन्म मृत्यु का दुःख भोगना ही पड़ता है। यदि योगी इस लोभ का त्यागकर दे तो उसे कैवल्य प्राप्ति हो सकती है।

सूत्र—५२

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।

क्षणतत्क्रमयोः=क्षण और उसके क्रम में; **संयमात्**=संयम करने से; **विवेकजम्**=विवेकजनित; **ज्ञानम्**=ज्ञान उत्पन्न होता है।

अनुवाद— *क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है।*

व्याख्या—प्रकृति परिवर्तनशील है। वह प्रतिक्षण बदलती रहती है किन्तु पुरुष (चेतन तत्व) सदा एक भाव से उसमें स्थित रहता है।

उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिए उसे कूटस्थ (स्थिर) कहा जाता है। जब योगी काल के छोटे से छोटे भाग क्षण तथा उसके क्रम में संयम करता है तो उसे यह ज्ञात हो जाता है कि इस पुरुष और प्रकृति के तत्वों में से कौन-सा स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील है तथा कौन-सा प्रतिक्षण बदल रहा है। इस आधार पर वह पुरुष और प्रकृति के स्वरूप में भेद कर सकता है। इस प्रकार के भेद का ज्ञान हो जाने को 'विवेक-जन्य ज्ञान' कहते हैं। इस प्रकार का विवेक हो जाने से उसे प्रकृति को छोड़ने तथा पुरुष तत्व को ग्रहण करने में सुविधा हो जाती है। दोनों संयुक्त होने से इस विवेक जन्य ज्ञान के बिना उनमें भेद करना कठिन हो जाता है तथा भेद किये बिना उसे तत्व ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार स्वर्ण में कितनी व किस प्रकार की मिलावट है इसे जानने से ही उसका परिशोधन करके शुद्ध स्वर्ण प्राप्त किया जाता है ऐसा ही पुरुष व प्रकृति का ज्ञान है जिसको जानकर ही उसका परिशोधन करने से केवल पुरुष तत्व शेष रह जाता है। यही कैवल्य है।

सूत्र—५३

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः।

जातिलक्षणदेशैः=(जिन वस्तुओं का) जाति, लक्षण और देश भेद से; **अन्यतानवच्छेदात्**=भेद नहीं किया जा सकता, इस कारण; **तुल्ययोः**=जो दो वस्तुएँ तुल्य (एक के सदृश) प्रतीत होती हैं, उनके भेद की; **प्रतिपत्तिः**=उपलब्धि; **ततः**=उस (विवेकज्ञान) से होती है।

अनुवाद— *जिन दो तुल्य वस्तुओं का भेद जाति, लक्षण और देश से न होने पर विवेकज ज्ञान से होता।*

व्याख्या—संसार में जितने भी पदार्थ हैं उनमें भेद दिखाई देता है। जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, जड़ पदार्थ आदि का भेद जातिगत भेद हैं। इनके लक्षणों के आधार पर भी भेद किये जाते हैं जैसे पत्थर और हीरा,

लकड़ी और कोयला आदि का भेद उन के लक्षणों के आधार पर किया जाता है। स्थान के अनुसार भी इनमें भेद किये जाते हैं जैसे जापानी, भारतीय, अमरीकी आदि। किन्तु प्रकृति और पुरुष अथवा जड़ और चेतन का जाति, देश तथा लक्षणों के आधार पर भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि वे सभी जाति, देश तथा लक्षणों में समान रूप से व्याप्त है। मनुष्य मनुष्य में जाति, देश, लक्षण के आधार पर भेद किया जा सकता है किन्तु सभी में वही चेतन आत्मा एवं प्रकृति है अतः जाति, देश, लक्षण के आधार पर उनमें भेद नहीं किया जा सकता। यह भेद केवल विवेक ज्ञान से ही होता है कि जो जड़ है, प्रकाश, गति तथा स्थिति जिसका स्वरूप हैं, जो त्रिगुणात्मक है, सतत् परिवर्तन शील है वह प्रकृति है तथा उसके भीतर जो चेतना है वह स्थिर, शान्त, असंग, निर्गुण दृष्टा मात्र है वह पुरुष है। यह संपूर्ण सृष्टि दोनों का संयुक्त रूप है। इस प्रकार इन दोनों का भेद विवेक ज्ञान उपलब्ध होने पर ही होता है अन्यथा ये अभिन्न ही प्रतीत होते हैं। कई लोग इसीलिए प्रकृति को ही महत्व देते हैं, पुरुष तत्व का बोध ही उन्हें नहीं हो पाता क्योंकि प्रकृति इन्द्रियगोचर है तथा पुरुष इन्द्रियों तथा बुद्धि का विषय ही नहीं है। विवेक ज्ञान से ही वह अनुभव में आता है।

सूत्र—५४

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

तारकम्=जो संसार-समुद्र से तारनेवाला है; **सर्वविषयम्**सबको जाननेवाला है; **सर्वथाविषयम्**=सब प्रकार से जाननेवाला है; **च**=और; **अक्रमम्**=बिना क्रम के (पूर्वापरके) जाननेवाला है; **इति**=इस प्रकार वह; **विवेकजम्**=विवेकजनित; **ज्ञानम्**=ज्ञान है।

अनुवाद— *जो संसार समुद्र से तारने वाला है, सब को जानने वाला है, सब प्रकार से जानने वाला है और बिना क्रम के जानने*

वाला है वह विवेक जनित ज्ञान है।

व्याख्या—इस विवेकजनित ज्ञान से ही प्रकृति और पुरुष, जड़ और चेतन की भिन्नता का ज्ञान होता है तथा इसी ज्ञान को प्राप्त करके योगी अपने को उस प्रकृति तत्व से अलग करके उस चैतन्य आत्मा में स्थित हो जाता है जो उसका वास्तविक स्वरूप है। इस चैतन्य पुरुष में स्थित होने से वह इस संसार सागर से (जन्म मरण के चक्र से) मुक्त हो जाता है तथा स्वयं दृष्टा हो जाने से सबको जानने वाला हो जाता है, तथा सब प्रकार से भली भाँति जानने वाला हो जाता है। प्रकृति का स्वरूप परिवर्तनशील है, उसे परिवर्तन के क्रम से ही जाना जा सकता है किन्तु वह पुरुष बिना ही क्रम के जाना जाता है क्योंकि वह सदा एक रूप में विद्यमान है। ऐसा ज्ञान वह विवेकजनित ज्ञान ही है। यही ज्ञान कैवल्य अवस्था का हेतु है। ज्ञान की यही सर्वोपरि अवस्था है।

सूत्र—५५

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

सत्त्वपुरुषयोः=बुद्धि और पुरुष—इन दोनों की; **शुद्धिसाम्ये**=जब समान भाव से शुद्धि हो जाती है, तब; **कैवल्यम्**=कैवल्य होता है।

अनुवाद— *प्रकृति और पुरुष (आत्मा) की जब समान भाव से शुद्धि हो जाती है तब कैवल्य होता है।*

व्याख्या—यह सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति और पुरुष के संयोग से बनी है। जिस प्रकार वैज्ञानिक विखण्डन एवं विश्लेषण द्वारा प्रकृति के रहस्यों की खोजकर अणु, परमाणु, एलेक्ट्रोन्स, प्रोटोन्स, न्यूट्रोन्स आदि के द्वारा क्वांटम सिद्धांत तक पहुँचा है उसी प्रकार योगी संयम द्वारा इनका ज्ञान कराता है। अन्तिम स्थिति में वह पाता है कि यह समस्त सृष्टि इस प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से बनी है। जब वह विवेक ज्ञान

द्वारा इन दोनों की भिन्नता को जान लेता है तो यह प्रकृति अपने कारण (तीनों गुणों में) में विलीन हो जाती हैं तथा शुद्ध पुरुष तत्व (आत्मा, चैतन्य) उससे भिन्न अनुभव होने लगता है। इस प्रकार दोनों की समान भाव से शुद्धि हो जाती है। शुद्ध प्रकृति एवं शुद्ध आत्मा (पुरुष) निखालिश रूप में दिखाई देती है। इन दोनों का संयोग भौतिक तत्वों की भाँति नहीं हुआ बल्कि अविद्या के कारण हुआ है। विवेक ज्ञान से यह अविद्या का पर्दा हट जाता है जिससे दोनों की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। इसके बाद प्रकृति अपने कारण में लय हो जाती है एवं शुद्ध आत्मा ही शेष रह जाती है। यही योगी की 'कैवल्यावस्था' है। यही परम योग तथा मोक्ष है जो केवल ज्ञान से होता है।

॥ इति विभूति पादः ॥

४
कैवल्य पाद

सूत्र—१
जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः=जन्म से होनेवाली, औषधि से होनेवाली, मन्त्र से होनेवाली, तप से होनेवाली और समाधि से होनेवाली (ऐसे पाँच प्रकार की); **सिद्धयः**=सिद्धियाँ होती हैं।

अनुवाद— *जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से होने वाली पाँच प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं।*

व्याख्या—विभूतिपाद में उन सभी सिद्धियों का वर्णन है जो साधक के साधनाकाल में प्रकट होती है। इस सूत्र में कुछ और सिद्धियों का वर्णन किया गया है जो साधना के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी आती हैं। सिद्धियों का अर्थ है ऐसी अलौकिक शक्ति जो सामान्य मनुष्य में नहीं पाई जाती। वह इन शक्तियों से कई विलक्षण कार्य करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इसलिए इन्हें 'सिद्धियाँ' कहते हैं। ये सिद्धियाँ निम्न पाँच कारणों से आती हैं—

१. **जन्म सिद्धि**—सामान्य व्यक्ति साधना करके सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं किन्तु जो साधक सबीज समाधि तक पहुँचकर निर्बीज समाधि उपलब्ध होने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं उनका एक जन्म और होता है जिसमें वे पूर्व जन्म में प्राप्त

सभी सिद्धियों से जन्म से ही सम्पन्न होते हैं। इसे 'भव प्रत्यय' कहते हैं जिसका वर्णन समाधि पाद के उन्नीसवें सूत्र में किया गया है। इसी प्रकार अन्य योगी की भी एक जन्म में की गई साधना व्यर्थ नहीं जाती। वह दूसरे जन्म में भी संस्कार रूप में विद्यमान रहती है। जिससे वह जन्म से ही अलौकिक कार्य करने की क्षमता रखता है। ऐसी सिद्धि को 'जन्मजा सिद्धि' कहते हैं। ऐसा योगी पूर्व जन्म की अपूर्ण साधना को पूरा करने हेतु ही जन्म लेता है जिसे 'भ्रष्ट योगी' कहते हैं। इस प्रकाार के चमत्कारिक व्यक्तियों के कई उदाहरण मिलते हैं।

२. **औषधि सिद्धि**—दूसरे प्रकार की सिद्धि औषधि से भी होती है। कई औषधियाँ हैं जिनके सेवन से मनुष्य का कायाकल्प हो जाता है, वह निरोग और दीर्घायु हो जाता है तथा शरीर में अपूर्व शक्ति का संचार हो जाता है। प्राचीन काल में च्यवनप्राश, सोमरस आदि अनेक औषधियों का वर्णन आता है जिनसे मनुष्य दीर्घायु तथा स्वस्थ रहता है। इसे 'औषधिजा सिद्धि' कहते हैं। तन्त्र में भी कई औषधियों का सिद्धि हेतु प्रयोग किया जाता है।

३. **मन्त्र सिद्धि**—किसी भी मन्त्र के निरन्तर जाप करने तथा विधिवत् अनुष्ठान करने से मन की शक्ति केन्द्रित हो जाती है। इस शक्ति के केन्द्रीयकरण से भी साधक में अनेक सिद्धियाँ आ जाती हैं जैसे उसकी वाचा सिद्ध हो जाती है, किसी होने वाली घटना का पूर्वाभास हो जाता है, झाड़-फूँक करने, सर्प एवं बिच्छू आदि का विष उतारने, प्रेत बाधा दूर करने, अनिष्टकारी शक्तियों के प्रभाव को दूर करने, किसी के मन की बात को जान लेने, आदि की भी शक्ति आ जाती है। तन्त्र

सिद्धि में मन्त्रों का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है। इस प्रकार की सिद्धि को 'मन्त्रजा सिद्धि' कहते हैं।

४. **तप सिद्धि**—जब स्वधर्म साधना तथा स्व-कर्तव्य के निष्ठापूर्वक पालन करने में जो कष्ट आते हैं उन्हें सहर्ष स्वीकार करने से उसके शरीर के मलों का नाश हो जाता है तथा चित्त निर्मल हो जाता है जिससे उसे अनेक सिद्धियाँ तथा अपूर्व साहस एवं आत्मबल प्राप्त हो जाता है, निजी स्वार्थो को छोड़ देने से उसे चारों ओर से सहायता उपलब्ध होने लगती है, उसके शरीर और वाणी में प्रभावकारी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे वह विलक्षण कार्य कर सकता है। इसे 'तपजा सिद्धि' कहते हैं।

५. **समाधि सिद्धि**—धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा संयम करने से साधक का अपने शरीर, इन्द्रियों तथा प्रकृति पर पूर्ण अधिकार हो जाता है जिससे उसे अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जिनका वर्णन विभूतिपाद में किया गया है। इन्हें 'समाधिजा सिद्धि' कहते हैं।

सूत्र— २

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।

जात्यन्तरपरिणामः=(यह) एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना रूप जात्यन्तरपरिणाम; **प्रकृत्यापूरात्**=प्रकृति के पूर्ण होने से होता है।

अनुवाद—*प्रकृतियों के परिवर्तन से योगी के शरीर इन्द्रिय तथा चित्त की जाति में परिवर्तन होता है।*

व्याख्या—प्रकृति के कुछ विशेष तत्व मिलकर मनुष्य के एक विशेष प्रकार के शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त आदि का निर्माण करते

हैं जिससे हर व्यक्ति के व्यक्तित्व में भिन्नता पाई जाती है। यदि इन तत्वों में परिवर्तन कर दिया जाए तो उसका व्यक्तित्व ही बदल जाता है। यह परिवर्तन आयु, ज्ञान, संगति आदि से तो अपने आप आता है किन्तु साधना, संकल्प तथा विशिष्ट कर्मो द्वारा भी लाया जा सकता है। साधना के द्वारा जब इन प्रकृति तत्वों में परिवर्तन आता है तो मनुष्य का व्यक्तित्व ही भिन्न प्रकार का हो जाता है इसी को 'सिद्धियाँ' कहते हैं। सिद्धियाँ और कुछ भी नहीं हैं न किसी देवता द्वारा दिये गए उपहार स्वरूप प्राप्त होती हैं बल्कि इन प्रकृति के तत्वों के परिवर्तन का ही परिणाम है। सिद्धियों के आने का यही वैज्ञानिक कारण है। डॉक्टर खुराना ने अपने शोध में यही सिद्ध किया है कि स्त्री और पुरुष के २३-२३ क्रोमोजोम्स के विभिन्न संयोगों से विभिन्न प्रकार की प्रतिभाएँ पैदा की जा सकती हैं। जो प्रतिभाएँ पैदा हो रही हैं वह संयोगवश ही हो रही हैं। इनका इच्छित संयोग भी कराया जा सकता है। क्रोमोजोम्स में पाये जाने वाले जीन्स की संख्या प्रत्येक जीव में निश्चित रहती है। ये जीन्स ही मनुष्य एवं वनस्पति विशेष के लक्षणों को प्रदर्शित करते हैं। प्रत्येक जानवर तथा मनुष्य की आकृति एवं गुणों में भिन्नता का कारण क्रोमोजोम्स की मात्रा की भिन्नता एवं जीन्स की संख्या की भिन्नता ही है जिससे इनका विकास भिन्न रूप में होता है। विभिन्न क्रोमोजोम्स के संयोगों के कारण ही विभिन्न सजीवों का निर्माण होता है एवं उनके विभिन्न गुण धर्म विकसित होते हैं।

यही बात जो विज्ञान आज कह रहा है उसी को पतंजलि इस सूत्र में बता रहे हैं कि प्रकृतियों के परिवर्तन से योगी के शरीर के लक्षण ही नहीं उसकी जाति में भी परिवर्तन आ जाता है। यह परिवर्तन उसके शरीर, इन्द्रियों तथा चित्त में आता है जिसे 'जात्यान्तर परिणाम' कहते हैं।

संकल्प और क्रिया से भी इन तत्वों में परिवर्तन आता है। जैसे

कोई स्त्री, पुरुष जैसा कर्म और व्यवहार करने लगे तथा पुरुष स्त्री जैसा व्यवहार एवं कर्म करने लगे अथवा वे पूर्ण संकल्प से अपने से भिन्न लिंगी होने का निश्चय कर ले तो उनका यौन परिवर्तन भी हो जाता है जिसके अनेक उदाहरण आज मिल रहे हैं क्योंकि इससे उनके हारमोन्स में परिवर्तन हो जाता है। रामकृष्ण परमहंस ने इसका प्रयोग किया था। अध्यात्म के अनुसार यह सृष्टि संकल्प से ही बनी है तथा मनुष्य जिस प्रकार का संकल्प करता है वैसा ही उसका व्यक्तित्व बन जाता है क्योंकि संकल्प के अनुसार ही शरीर के भीतर के इन प्रकृति तत्वों में परिवर्तन होता है जो शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ चित्त आदि का कारण है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का अन्य योनियों में जन्म लेना सम्भव है।

यदि इस सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या की जाए तो यह पूर्ण रूपेण वैज्ञानिक सत्य है। वैज्ञानिक इसकी अच्छी व्याख्या दे सकता है। मैं इतना ही पर्याप्त समझता हूँ।

सूत्र—३

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।

निमित्तम्=निमित्त; **प्रकृतीनाम्**=प्रकृतियों को; **अप्रयोजकम्**= चलानेवाला नहीं है; **ततः**=उससे; **तु**=तो (केवल); **क्षेत्रिकवत्**= किसान की भाँति; **वरणभेदः**=रुकावट का छेदन किया जाता है।

अनुवाद— *ये सिद्धियाँ इनके विकास के लिए निमित्त (कारण) नहीं है परन्तु किसान की भाँति रुकावटों को दूर करती है।*

व्याख्या—प्रकृति तथा उसके स्वभाव को न बनाया जा सकता है न उसे मिटाया ही जा सकता है किन्तु उसका मार्ग परिवर्तन किया जा सकता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति के अपने स्वभाव के कारण ही है। यह स्वभाव ही इसका धर्म एवं नियम है जिसके अनुसार यह कार्य

करती है। स्वयं सृष्टा भी इसके स्वभाव को नहीं बदल सकता। भोगों की ओर आकर्षित होना तथा जीव को मुक्ति प्रदान कराना दोनों इसका स्वभाव है इसलिए इसका मार्ग परिवर्तन किया जा सकता है। प्रकृति के विभिन्न तत्वों के संयोग से ही मनुष्य का शरीर, इन्द्रियाँ, चित्त आदि का निर्माण हुआ है तथा इन्हीं संयोगों के कारण उसका एक विशेष प्रकार का व्यक्तित्व बना है, साधना, संकल्प, क्रिया आदि के द्वारा इनका मार्ग परिवर्तन कर भिन्न प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण किया जा सकता है। आयु, ज्ञान, संगति, वातावरण आदि से भी इसमें क्रमिक परिवर्तन आता है किन्तु इससे इसकी गति धीमी होती है। साधना, संकल्प, क्रिया आदि से इसकी गति तीव्र की जा सकती है जिससे दस जन्मों में होने वाला विकास एक ही जन्म में पूरा हो सकता है। इनका यही महत्व है।

इस सूत्र में बताया गया है कि प्रथम सूत्र में बताये गये पाँच साधनों से जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं इनसे प्रकृति के तत्वों का स्वभाव नहीं बदल जाता बल्कि ये उनके बीच आई रुकावटों को हटाने वाली है जिससे इनका मार्ग परिवर्तन होता है। ये असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर तथा अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाली हो जाती है। जिस प्रकार किसान खेत को पानी पहुँचाने के लिए क्यारियों को एक तरफ से बन्द करता है तथा दूसरी ओर उसे खोलता है जिसे पानी को जिधर चाहे पहुँचाया जा सकता है वैसे ही ये सिद्धियाँ व्यक्ति का मार्ग निर्धारण करती है। ये प्रकृति तत्वों को बदलती नहीं है। चित्त की शुभाशुभ धारणा से ही इन तत्वों का प्रवाह चलता रहता है। सिद्धियों से विकास नहीं होता, रुकावट मात्र हटती है जिससे साधक मोक्ष की ओर बढ़ता है।

सूत्र—४

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।

निर्माणचित्तानि=बनाये हुए चित्त; **अस्मितामात्रात्**=केवल

अस्मिता से होते हैं।

अनुवाद— *निर्माण हुए चित्त अस्मिता (अहंतत्त्व) से होते हैं।*

व्याख्या—पहले बताया गया है कि प्रकृति तीन गुणों से युक्त है तथा इसके साथ जब पुरुष (चेतन तत्व) का संयोग होता है तो 'महत्तत्व' की उत्पत्ति होती है। समष्टि में जिसे 'महत्तत्व' कहते हैं व्यष्टि में वही 'चित्त' है। यह चित्त ही अस्मिता है जिसमें 'मैं' भाव आ जाता है तथा अपना स्वतन्त्र रूप समझने लगता है। ऐसा समझने का कारण अविद्या ही है। इस सूत्र में यही कहा गया है कि यह 'समष्टि चित्त' (महत्तत्व) ही अहं के कारण 'व्यष्टि चित्त' हो जाता है तथा प्रत्येक व्यक्ति का चित्त भिन्न-भिन्न ज्ञात होने लगता है। इस सूत्र में निर्माण चित्त (बनाये हुए चित्त) से तात्पर्य व्यष्टि चित्त है तथा यह महत्तत्व, समष्टि चित्त है। दोनों एक ही हैं किन्तु अस्मिता (अहं भावना) के कारण व्यष्टि चित्त उस महत्तत्व से भिन्न प्रतीत होने लगता है। यह भ्रान्ति भी उसी प्रकार की है जैसे आत्मा (व्यष्टि चेतन) तथा परमात्मा (समष्टि चेतन) को भिन्न समझने की भ्रान्ति तथा आत्माओं को अनेक मानना।

सूत्र—५

प्रवृत्तिभेदे प्रजोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्।

अनेकेषाम्=अनेक चित्तों को; **प्रवृत्तिभेदे**=नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में; **प्रयोजकम्**=नियुक्त करनेवाला; **एकम्**=एक; **चित्तम्**= चित्त (होता) है।

अनुवाद— *अनेक चित्तों को नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में नियुक्त करने वाला एक चित्त होता है।*

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्र के अनुसार सभी व्यक्तियों के चित्त अज्ञान वश भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु वे भिन्न-भिन्न नहीं हैं बल्कि एक ही हैं। प्रत्येक व्यक्ति का चित्त तीन गुणों से बना है जिनके तीन ही

भिन्न कार्य हैं। इन तीनों का संयुक्त रूप ही चित्त है जिससे उसके कार्य भी तीन प्रकार के होते हैं सत्व, रज तथा तम गुण युक्त। इनके विभिन्न संयोगों से शरीर तथा इन्द्रियों के कार्य भिन्न-भिन्न हो जाते हैं किन्तु उन नाना प्रकार की प्रवृत्तियों को नियुक्त तथा नियन्त्रित करने वाला एक ही चित्त है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के चित्त भी एक ही हैं क्योंकि सभी तीनों गुणों से निर्मित हैं इसलिए कहा गया है कि इन समस्त चित्तों का संचालन करने वाला एक ही चित्त है। इसीलिए सभी मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में समानता पाई जाती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, घृणा, प्रेम, दया, करुणा, अहिंसा आदि गुण प्राणी मात्र में इसी कारण विद्यमान रहते हैं क्योंकि सबके चित्तों का निर्माण एक ही चित्त से हुआ है। वैज्ञानिकों के अनुसार भी यह सारी सृष्टि १०६ तत्वों में बनी है जो सभी जड़ चेतन में न्यूनाधिक मात्रा एवं संख्या में पाये जाते हैं तथा ये सभी तत्व उस एक ऊर्जा से निर्मित हैं। सृष्टि में भिन्नता दिखाई देते हुए भी इसी कारण से उसमें एकता है। जिस प्रकार गर्भाधान के समय शुक्राणु तथा अण्डाणु मिलकर प्रथम एक ही कोष (सैल) का निर्माण करते हैं फिर उसका विभाजन होकर शरीर के विभिन्न अंगों का निर्माण होता है उसी प्रकार एक ही चित्त विभक्त होकर अनेक चित्तों का निर्माण करता है। इसे उस समष्टि चित्त की 'प्रवृत्ति' कहते हैं तथा इन विभिन्न चित्तों की जो प्रवृत्ति है उन्हें 'वृत्तियाँ' कहा जाता है। इन्हीं से शरीर के विभिन्न अंगों का निर्माण और संचालन होता है।

सूत्र—६

तत्रध्यानजमनाशयम्।

तत्र=उनमें से; **ध्यानजम्**=जो ध्यानजनित चित्त होता है, वह; **अनाशयम्**=कर्म-संस्कारों से रहित होता है।

अनुवाद— *उनमें से जो ध्यान जनित चित्त होता है वह कर्म*

संस्कारों से रहित होता है (वासना रहित होता है)।

व्याख्या—जब कोई साधक इस चित्त का ज्ञान ध्यान तथा समाधि द्वारा करता है तो ऐसा चित्त कर्म-संस्कारों से रहित होता है। क्योंकि जब तक कर्म संस्कार समाप्त नहीं हो जाते तब तक सबीज समाधि नहीं होती तथा बिना सबीज समाधि के चित्त का ज्ञान नहीं होता। ऐसे चित्त में ये कर्म संस्कार केवल बीज रूप में ही रहते हैं। अन्य प्रकार से भी चित्त का ज्ञान हो सकता है किन्तु उसमें कर्म संस्कार विद्यमान रहते हैं क्योंकि उनका क्षय तो ध्यान द्वारा ही होता है। इससे अन्य प्रकार से हुआ चित्त का ज्ञान कैवल्य का हेतु नहीं बन सकता। इसलिए साधक को चाहिए कि ध्यान और समाधि द्वारा ही चित्त की अनुभूति करे। अन्य साधनों से सिद्धियाँ मिल सकती हैं किन्तु उनसे मोक्ष नहीं मिल सकता।

सूत्र—७

कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

योगिनः=योगी के; **कर्म**=कर्म; **अशुक्लाकृष्णम्**=अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं (तथा); **इतरेषाम्**=दूसरों के; **त्रिविधम्**=तीन प्रकार के होते हैं।

अनुवाद— *योगी के कर्म न शुक्ल न कृष्ण अर्थात पुण्य पाप रहित होते हैं। अन्यों के कर्म पाप, पुण्य और पाप-पुण्य भेद से तीन प्रकार के होते हैं।*

व्याख्या—अहंकार के होने से मनुष्य अपने को कर्ता समझता है तथा इस कर्तापन के कारण ही वह कर्मो के फल का भोक्ता भी होता है। अज्ञान के कारण ही अहंकार होता है अतः अज्ञान के रहते मनुष्य जो भी शुभ तथा अशुभ अथवा शुभ-अशुभ मिश्रित जो भी कर्म करेगा उसे वैसा ही फल अवश्य भोगना पड़ेगा। यही कर्म बन्धन कहलाता है जिसे भोगे बिना वह नहीं छूटता तथा इनके छूटे बिना मुक्ति नहीं होती। सभी कर्मो

के संस्कार चित्त पर रहते हैं तथा इन्हीं को भोगने हेतु उसका पुनर्जन्म होता है। अच्छे कर्मों से बुरे कर्मों के फल नष्ट नहीं होते बल्कि दोनों को ही भोगना पड़ता है। अज्ञानियों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं—पुण्य कर्म, पाप कर्म तथा पुण्य-पाप से मिश्रित कर्म। पुण्य कर्म को शुक्ल कर्म भी कहते हैं जिसका फल सुख भोग होता है। पाप कर्म को कृष्ण-कर्म भी कहते हैं जिनका फल दुःख का भोग है। इन्हें स्वर्ग और नरक भी कहते हैं। किन्तु इनका फल तभी तक होता है जब तक भीतर अहंकार एवं कर्तापन विद्यमान है। योगी का चित्त जब अहंकार शून्य हो जाता है तो उसे इन दोनों प्रकार के कर्मों का फल नहीं भोगना पड़ता क्योंकि वह कर्ता नहीं रह जाता। आत्मज्ञान को उपलब्ध हुआ योगी ही इनसे मुक्त होता है। इसलिए ऐसे ज्ञानी योगी के कर्म न शुक्ल होते हैं न कृष्ण। वह स्वाभाविक जीवन जीता है। अहंकार वश कोई कर्म नहीं करता। इसलिए उनके फल का भोग भी उसे नहीं करना पड़ता।

सूत्र—८

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।

ततः=उन (तीन प्रकार के कर्मों) से; **तद्विपाकानुगुणानाम्**= उनके फलभोगानुकूल; **वासनानाम्**=वासनाओं की; **एव**=ही; **अभिव्यक्तिः**=अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) होती है।

अनुवाद— *उन तीन प्रकार के कर्मों से उनके फलानुसार वासनायें प्रकट होती हैं।*

व्याख्या—जीवन में जो भी शुभ, अशुभ तथा पाप, पुण्य के कर्म किये जाते हैं मृत्यु के बाद केवल उनकी स्मृतियाँ शेष रह जाती हैं। ये स्मृतियाँ ही कर्म-संस्कार कहलाती हैं जो चित्त में सदा संग्रहीत रहती हैं। जो जीवन में नहीं कर पाये हैं तथा जो किया गया है उससे तृप्ति नहीं हुई है, किसी ने बुरा किया है तो उससे बदला लेने की भावना, संसार में स्त्री,

पुत्र, धन आदि के प्रति मोह रह जाना आदि की समस्त स्मृतियाँ मृत्यु के बाद जीव के साथ विद्यमान रहती हैं, ये ही वासनायें आसक्ति का कारण है जिससे मनुष्य का पुनर्जन्म होता है तथा नया जन्म लेने पर जिन-जिन कर्मों के भोग का समय जब-जब आता है उस समय वैसी ही वासना का उदय हो जाता है तथा उसी के अनुसार इसकी बुद्धि हो जाती है जिससे वह उसी प्रकार का कार्य करने को तैयार हो जाता है। कहा भी है 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' अर्थात जैसा कर्म फल भोग का समय आता है उस समय उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वासनाएँ बुद्धि को प्रभावित करती हैं तथा बुद्धि से मन प्रभावित होकर ही वह अच्छे बुरे कर्म में प्रवृत्त होता है। इन कर्मों से फिर नई वासनाएँ पैदा होती हैं जिन्हें अगले जन्मों में भुगतना पड़ता है। इस प्रकार कर्म एवं वासनाओं का यह दुष्ट चक्र कभी समाप्त नहीं होता। एक जन्म में जिन वासनाओं का भोग के लिए उदय नहीं हुआ हैं वे चित्त में संग्रहीत रहती हैं। इसलिए जीवन में सभी प्रकार की वासनाओं का उदय इन कर्म संस्कारों के ही कारण होता है। स्वाभाविक रूप से जिसकी वृत्ति का झुकाव जिस ओर होता है वही उसके कर्म संस्कारों की वासना है। शिक्षा, वातावरण आदि के द्वारा इनका रूपान्तरण भी किया जा सकता है।

सूत्र—९

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।

जातिदेशकालव्यवहितानाम्=जाति, देश और काल—इन तीनों का व्यवधान रहने पर; **अपि**=भी; **आनन्तर्यम्**=कर्म के संस्कारों में व्यवधान नहीं होता है; **स्मृतिसंस्कारयोः**=क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का; **एकरूपत्वात्**=एक ही स्वरूप होता है।

अनुवाद— *जाति, देश और काल का व्यवधान रहने पर भी स्मृति और संस्कारों का एक स्वरूप होने के कारण वासनाओं*

अन्तर नहीं होता। ये एक रूप रहती है।

व्याख्या—जहाँ जन्म है वहाँ कर्म है। जीवन कर्म का ही पर्याय है। जन्म के साथ ही कर्मो का आरम्भ होता है तथा मृत्यु के साथ वे समाप्त होते हैं इसलिए जीवन ही कर्म है तथा मृत्यु कर्म का अभाव है। मृत्यु पर कर्मो का प्रकट स्वरूप तो समाप्त हो जाता है किन्तु उनकी स्मृतियाँ शेष रह जाती हैं जो नई वासनाओं को जन्म देती है। यही नये जन्म का कारण है। इस प्रकार कर्म, कर्म स्मृतियाँ, कर्म संस्कार, वासनाएँ तथा नया जन्म आदि का चक्र चलता है जो समस्त मानव जाति के लिए सत्य है। यह सृष्टि का अथवा प्रकृति का शाश्वत नियम है जिस पर जाति, स्थान तथा काल का कोई व्यवधान नहीं पड़ता अर्थात यह ऐसा नियम नहीं है कि जो केवल भारतीयों पर, हिन्दुओं तथा बौद्धों पर ही लागू होता हो, मुस्लिम, ईसाइयों, अमेरिकावासियों, टुण्ड्रा वासियों, रूसियों पर लागू न होता हो। न ऐसा है कि यह नियम वैदिक काल अथवा पौराणिक काल में लागू होता था तथा आज इस वैज्ञानिक एवं औद्योगिक युग में लागू न होता हो। देश, काल, जाति, परिस्थिति आदि से यह नियम बदल नहीं जाता। यह सरकारी आर्डिनेन्स की भाँति नहीं है, न सामाजिक व्यवस्था के लिए बनाया गया है बल्कि यह प्रकृति का शाश्वत नियम है जो सदा एकरूप रहता है। यदि किसी ने भारत में रहकर, हिन्दू घर में जन्म लेकर विशेष प्रकार के कर्म किये हैं तो उनके फलस्वरूप जो स्मृतियाँ तथा संस्कार बने हैं, वे अगले जन्म में चाहे वह अमेरिका में अथवा लन्दन में ईसाई घराने में पैदा हुआ है तो भी उसकी वैसी ही वासना प्रकट हो जायेगी। इसमें अन्तर नहीं आयेगा। इसलिए सम्पूर्ण मनुष्य जाति के व्यवहार में एकता पाई जाती है। सभी में काम, क्रोध, लोभ, मोह, आसक्ति, प्रेम, घृणा, दया, करुणा, हिंसा, स्वार्थ आदि गुण समान रूप से पाये जाते हैं। शिक्षा एवं वातावरण द्वारा इनकी तीव्रता में कमी-बेशी होती है। इसलिए यह नियम सार्वभौम एवं शाश्वत

कहलाता है यह साम्प्रदायिक नियम जैसा भी नहीं है कि एक जाति के लिए हो, न ऐसा है कि इस कलियुग, पंचम काल तथा वैज्ञानिक युग में लागू न होता हो।

सूत्र—१०

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।

तासाम्=उन वासनाओं की; **अनादित्वम्**=अनादिता है; **आशिषः नित्यत्वात्**=क्योंकि प्राणी में (अपने) बने रहने की इच्छा नित्य अर्थात् अनादिकाल से; **च**=ही है।

अनुवाद— *उन वासनाओं की अनादिता है क्योंकि प्राणी में अपने बने रहने की इच्छा नित्य अर्थात् अनादिकाल से ही है।*

व्याख्या—जगत् की गति वृत्ताकार है। इनका न कहीं आदि है न अन्त। सृष्टि निर्माण का कार्य सतत् रूप से निर्माण एवं विध्वंस की प्रक्रिया द्वारा चल रहा है। सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण न किसी खास समय में हुआ न किसी खास समय में इसका अन्त होगा। प्रकृति पुरुष संयोग तथा इनकी क्रिया प्रतिक्रिया स्वरूप ही विभिन्न रूपों का निर्माण हुआ। ये विभिन्न रूप पुनः उसी प्रकृति में विलीन हो जायेंगे तथा प्रकृति का अपने तीनों गुणों में लय हो जायेगा जहाँ से इसका आरम्भ हुआ था। यहाँ यह वृत्त पूरा हो जायगा तथा पुनः नई सृष्टि के लिए अवसर उपस्थित हो जाएगा। इसी प्रकार कर्म और वासनाओं की गति भी वृत्ताकार (सरकुलर) है। कर्म से स्मृति और संस्कार बनते हैं तथा इन संस्कारों के कारण वासना उठती है जिससे कर्म होते हैं इन दोनों में सर्वप्रथम कौन हुआ कहना कठिन है। यह प्रश्न वैसा ही है जैसा पहले मुर्गी हुई या अण्डा। इस सूत्र में इसका समाधान किया गया है कि ये वासनाएँ अनादि हैं जो नित्य हैं। इस वासना से ही जन्म मृत्यु एवं पुनर्जन्म का चक्र आरम्भ होता है। वासनाओं का मूल अहंकार है तथा

अहंकार के गिरने से वासनायें भी समाप्त हो जाती हैं। जीवन, उसके कर्म तथा भोग की इच्छा केवल अहंकार के कारण है। इन भोगों से अहंकार ही तुष्ट होता है। अहंकार के रहते वासनाओं का अन्त कभी नहीं होता। जब अहंकार गिरता है तथा प्रकृति अपने कारण में लय होती है। इसके बाद ही वासनाओं का अन्त होता है। इसलिए वासनाओं को अनादि कहा गया है।

सूत्र—११

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संग्रहीतत्वादेषामभावे तदभावः।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः=हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन, इनसे; **संगृहीतत्वात्**=वासनाओं का संग्रह होता है, इसलिये; **एषाम्**=इन (चारों) का; **अभावे**=अभाव होने से; **तदभावः**=उन (वासनाओं) का भी (सर्वथा) अभाव हो जाता है।

अनुवाद—*वासनाएँ हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से संगृहीत होती हैं। इन चारों का अभाव होने से उन वासनाओं का भी सर्वथा अभाव हो जाता है।*

व्याख्या—प्रकृति का न आदि है न अन्त। उसका केवल रूप परिवर्तन होता रहता है। प्रकृति धर्मी है तथा उसकी विभिन्न शक्तियाँ उसका धर्म हैं। इन धर्मों के परस्पर मिलने से ही विभिन्न रूप दिखाई देते हैं तथा एक निश्चित अवधि के बाद इनकी अवस्था में परिवर्तन हो जाता है जिससे ये लय हो जाते हैं तथा इनका दूसरा रूप बन जाता है। ये शक्तियाँ अनागत, उदित तथा शान्त अवस्था में रहती हैं। नष्ट कुछ भी नहीं होता। प्रकृति भी अपने कारण में लय हो जाती है, नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार वासनाएँ हैं। इन्हें भी अनादि कहा गया है क्योंकि ये भी नष्ट नहीं होतीं। हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन को पाकर ये प्रकट होती हैं तथा इन चरों का अभाव होने से इन वासनाओं का भी अभाव हो जाता

है। ये दिखाई नहीं देतीं किन्तु नष्ट नहीं होतीं। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, सितारे आदि पृथ्वी के भ्रमण के कारण उदय और अस्त होते हैं उनका विनाश नहीं होता उसी प्रकार उपर्युक्त चारों कारणों से ये वासनाएँ उदय और अस्त होती हैं नष्ट नहीं होतीं। इसलिए इन्हें भी अनादि कहा गया है। वासनाओं का हेतु है अविद्या, जिसे अहंकार पैदा होता है। अहंकार ही वासनाओं का कारण है। इनका फल है जन्म, आयु और भोग तथा इनका आश्रय है चित्त जहाँ यह विद्यमान रहती है। इनका आलम्बन है विषय, जिनका भोग करके ये जीवित रहती हैं। ये चारों जब तक विद्यमान हैं तब तक वासनाएँ जीवित रहेंगी किन्तु कैवल्य अवस्था में जब प्रकृति का ही अपने गुणों में लय हो जाता है तो ये उसके साथ ही लय हो जाती हैं चित्त जो इसका आश्रय है उसके रहते ये भी बीज रूप में विद्यमान रहेगी। उसके अपने कारण में विलीन होने से ही इनका अभाव होगा। इसलिए कैवल्य प्राप्ति के बाद योगी का पुनर्जन्म नहीं होता। इसी को अगले सूत्र में और समझाया गया है।

सूत्र—१२

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्यभेदाद्धर्माणाम्।

धर्माणाम्=धर्मों में, **अध्वभेदात्**=काल का भेद होता है, इस कारण; **अतीतानागतम्**=जो धर्म (अविद्या, वासना, चित्त और चित्त की वृत्तियाँ आदि) अतीत हो गये हैं और जो अनागत हैं—अभी प्रकट नहीं हुए हैं, वे भी; **स्वरूपतोऽस्ति**=स्वरूप से विद्यमान रहते हैं।

अनुवाद— धर्मों में काल का भेद होता है इस कारण जो धर्म (अविद्या, वासना, चित्त और चित्त की वृत्तियाँ आदि) अतीत हो गये हैं और जो अभी प्रकट नहीं हुए हैं वे भी स्वरूप में विद्यमान रहते हैं।

व्याख्या—धर्मी (प्रकृति) एक है उसके अनेक धर्म (शक्तियाँ) हैं। ये धर्म ही उस धर्मी का स्वभाव है। इन धर्मो का रूपान्तरण होता है। ये नष्ट नहीं हो सकते। ये शक्तियाँ या तो अनागत अवस्था में रहती हैं जो भविष्य में प्रकट होगी, या ये प्रकट हो चुकी है अथवा ये प्रकट होकर अपना कार्य पूरा करके शान्त हो चुकी है। शान्त होने का अर्थ भी नष्ट हो जाना नहीं है बल्कि प्रभावहीन होना है। जैसे सूर्य के अस्त होने का अर्थ नष्ट होना नहीं है। पृथ्वी की आड़ के कारण उसका प्रभाव समाप्त हो गया है। ऐसी ही ये शक्तियाँ हैं। इसलिए इन धर्मों में तीन प्रकार का काल भेद होता है। इसमें जो धर्म (शक्तियाँ) अतीत अर्थात् शांत हो चुका है तथा जो अनागत (अभी प्रकट हुआ नहीं है) वे भी अपने रूप में विद्यमान रहते हैं। समय आने पर ही वे प्रकट होंगे तथा शान्त स्थिति में अपने कारण में लय हो जायेंगे। इन दोनों स्थितियों में वे अव्यक्त अवस्था में रहते हैं। यदि ये नष्ट हो जाते तो पुनः प्रकट होने का कोई उपाय ही नहीं रहता। अपने कारण में विलीन हो जाना उनका नाश या अभाव नहीं है लेकिन योगी का इनसे सम्बन्ध विच्छेद हो जाने से ये उसको प्रभावित नहीं कर सकते जिससे वह पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है।

सूत्र—१३

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः।

ते=वे (समस्त धर्म); **व्यक्तसूक्ष्माः**=व्यक्त स्थिति में और सूक्ष्म स्थिति में (सदैव); **गुणात्मानः**=गुणस्वरूप ही हैं।

अनुवाद—*वे (समस्त धर्म) व्यक्त स्थिति में और सूक्ष्म स्थिति में (सदैव) गुण (सत्व, रज, तेम) स्वरूप ही है।*

व्याख्या—प्रकृति का कारण है सत्व, रज तथा तम गुण। ये तीनों गुण उसके धर्म (शक्तियाँ) में व्याप्त रहते हैं। ये धर्म प्रकृति का स्वभाव

ही है। इन धर्मों की तीन स्थितियाँ पूर्व में बताई गई हैं। जब ये धर्म वर्तमान रहते हैं अर्थात अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं तो इसे इनकी व्यक्त अवस्था कहते हैं किन्तु जब ये अनागत तथा शान्त अवस्था में आ जाते हैं तो भी ये नष्ट नहीं होते बल्कि अपने सूक्ष्म रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। समय आने पर ये फिर व्यक्त (प्रकट) हो सकते हैं। चूँकि प्रकृति तीन गुणों से युक्त है अतः इसके ये सभी गुण उसके धर्मों (शक्तियों) में सदा व्याप्त रहते हैं चाहे वे धर्म व्यक्त अथवा अव्यक्त (सूक्ष्म) किसी भी स्थिति में रहें। इन गुणों का कभी अभाव नहीं होता। इसलिए यह वासना चूँकि प्रकृति का ही धर्म है इसलिए यह गुण स्वरूप से सदा विद्यमान रहती है। इसीलिए इसे अनादि कहा गया है। चूँकि प्रकृति परिणामशील हैं जिससे इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। ये सब सूत्र पूर्ण वैज्ञानिक आधार लिये हुए हैं कि किसी भी वस्तु की सत्ता का अभाव नहीं है। ये व्यक्त तथा अव्यक्त में परिवर्तित होती रहती है। जो दिखाई देता है वही सत्य नहीं है बल्कि उसका सूक्ष्म रूप अव्यक्त भी सत्य है। इन सूत्रों के आधार पर आधुनिक विज्ञान की खोज अभी अपनी शैशवावस्था से गुजर रही है। पतंजलि का यह विज्ञान प्रौढ़ विज्ञान है।

सूत्र—१४

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम्।

परिणामैकत्वात्=परिणाम की एकता से; **वस्तुतत्त्वम्**=वस्तु का वैसा होना सम्भव है।

अनुवाद— परिणाम की एकता से वस्तु तत्व एक है।

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्रों से यह बात स्पष्ट हो गई है कि सृष्टि में पाये जाने वाले समस्त पदार्थ प्रकृति के विभिन्न धर्मों (शक्तियों) के पारस्परिक संयोग तथा क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप ही निर्मित

हुए हैं किन्तु उन सबके मूल में वह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है। इस प्रकृति से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं है तथा प्रकृति त्रिगुणात्मक होने से भी तत्वों में ये तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं। सृष्टि के ये समस्त पदार्थ नष्ट होकर पुनः अपने मूल स्वरूप प्रकृति में लय हो जायेंगे जहाँ से इनकी उत्पत्ति हुई थी। इसलिए इन पदार्थो का रूपान्तरण मात्र होता है ये सदा के लिए कभी नष्ट नहीं होते। इसलिए एक ही प्रकृति के परिणाम स्वरूप उत्पन्न पदार्थो में एकता है क्योंकि ये उस प्रकृति से भिन्न नहीं है। यही बात विज्ञान आज कह रहा है कि सृष्टि के समस्त पदार्थ ऊर्जा का ही रूपान्तरण है तथा ये पुनः उसी ऊर्जा में विलीन हो जायेंगे। नष्ट कुछ भी नहीं होता। जिस प्रकार स्वर्ण के विभिन्न आभूषण बनते हैं किन्तु वह पूर्व में भी स्वर्ण ही था, वर्तमान में भी स्वर्ण ही है तथा आभूषणों के नष्ट होने पर भी अन्त में स्वर्ण ही रहेगा। उसका नाश नहीं होता। मिट्‌टी से विभिन्न वस्तुएँ बनती हैं किन्तु मूल में वह मिट्‌टी ही है व अन्त में भी मिट्‌टी ही रहेगी। ऊर्जा से पदार्थ बनते हैं वे मूल में ऊर्जा ही थे व अन्त में भी ऊर्जा ही रहेगी। उसका नाश नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृति नित्य है। वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य में भी रहेगी। उसका नाश नहीं होता। वही अनेक रूपों का निर्माण करती है जिनमें उसके तीनों गुण सदा विद्यमान रहते हैं। ये तीन गुण ही समस्त सृष्टि रचना का कारण है। इनमें सत्व गुण (सेण्टिमेण्ट), रजोगुण (म्यूटेटिव) तथा तमोगुण (स्टेटिक) के बिना सृष्टि हो ही नहीं सकती। विज्ञान ने भी परमाणु संरचना में इन तीनों को स्वीकार किया है जिनमें पोजीटिव, नेगेटिव तथा उदासीन तत्त्व विद्यमान हैं। इलेक्ट्रोन्स, प्रोटोन्स एवं न्यूट्रोन्स इनके रूप हैं। इनके विखंडन से केवल ऊर्जा प्राप्त होती है। इसी ऊर्जा से सर्वप्रथम इन परमाणुओं का निर्माण होता है तथा इन्हीं से आगे की सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। इसलिए योग की यह मान्यता एक वैज्ञानिक सत्य है।

सूत्र—१५

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पंथाः।

वस्तुसाम्ये=वस्तु की एकता में (भी), **चित्तभेदात्**=चित्त का भेद प्रत्यक्ष है, इसलिये; **तयोः**=(चित्त और उसके द्वारा देखी जानेवाली वस्तु) इन दोनों का; **पन्थाः**=मार्ग; **विभक्तः**=अलग-अलग है।

अनुवाद— *वस्तु में समता होने पर भी चित्त के भेद से वस्तु और चित्त का मार्ग भिन्न है।*

व्याख्या—यद्यपि सभी वस्तुएँ प्रकृति से ही निर्मित हैं इसलिए वे सभी एक ही हैं क्योंकि इनका अन्तिम परिणाम पुनः उस प्रकृति में लय को प्राप्त होना है किन्तु इन सबमें भिन्नता दिखाई देती है। इसका कारण है चित्त की वृत्तियों की भिन्नता। चित्त अपनी वृत्तियों के अनुसार ही वस्तु को देखता है। एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न मनुष्यों को अपने चित्त की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की दिखाई देती है। यह चित्त प्रत्येक व्यक्ति की वृत्ति तथा गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है तथा समय के अनुसार भी इसमें गुणों की न्यूनाधिक मात्रा से परिवर्तन होता रहता है इसलिए वस्तुओं में भिन्नता दिखाई देती है। वस्तुतः यह चित्त की ही भिन्नता है। वस्तु और चित्त का मार्ग भिन्न है। सृष्टि में भेद ज्ञात होने का कारण वस्तु नहीं बल्कि चित्त है अथवा सृष्टि में सर्वत्र एकत्व ही है। चित्त का निर्माण भी इन्हीं प्रकृति के तीनों गुणों से हुआ है किन्तु उसमें अहंकार के कारण वासना का उदय हो जाता है। वासना से कर्म होते हैं तथा कर्मों से फिर संस्कार बनकर चित्त में जमा होते रहते हैं जिनकी प्रेरणा से पुनः नये कर्म होते हैं। इन संस्कारों की भिन्नता के कारण प्रत्येक व्यक्ति का चित्त भिन्न-भिन्न प्रकार से सोचता व कार्य करता है। इसलिए सभी व्यक्तियों के चित्तों में भिन्नता पाई जाती है। सभी चित्तों का निर्माण एक ही विधि व एक ही वस्तु से होने से उनमें

समता है किन्तु विभिन्न संस्कारों के कारण उनमें भिन्नता आ जाती है जिससे दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वस्तु में भेद दिखाई देने का कारण भी चित्त के ये संस्कार ही हैं जिससे एक ही वस्तु प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाई देती है तथा वह उसकी व्याख्या भी अपने मन के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से करता है।

सूत्र—१६

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।

च=इसके सिवा; **वस्तु**=दृश्य वस्तु; **एकचित्ततन्त्रम्**=किसी एक चित्त के अधीन; **न**=नहीं है (क्योंकि); **तदप्रमाणकम्**=जब वह चित्त का विषय नहीं रहेगी; **तदा**=उस समय; **किं स्यात्**=वस्तु का क्या होगा?

अनुवाद— *इसके सिवाय दृश्य वस्तु किसी एक चित्त के अधीन नहीं है। अन्यथा चित्त के अभाव में उस वस्तु का क्या होगा?*

व्याख्या—चित्त का स्वरूप यद्यपि एक जैसा है किन्तु उसकी वृत्तियों की भिन्नता के अनुसार वह प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होता है। इसलिए सभी दृश्य वस्तुएँ किसी एक चित्त के अधीन नहीं हैं। यदि ये एक ही चित्त के अधीन होती तो कैवल्य अवस्था में जब योगी के चित्त का ही अभाव हो जाता है अर्थात वह अपने कारण में विलीन हो जाता है तो उसके सामने वस्तुओं का भी अभाव हो जाना चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं। इसका अर्थ हैं कि इस समस्त सृष्टि का एक चित्त नहीं है। तथा यह सृष्टि किसी एक चित्त के अधीन भी नहीं है। यह चित्त से भिन्न है। पदार्थ की रचना व चित्त की रचना का कारण यद्यपि प्रकृति ही है किन्तु ये सभी दृश्य पदार्थ किसी एक चित्त के अधीन नहीं है। वस्तुओं का निर्माण भिन्न विधि से हुआ है व चित्त अपने संस्कारों के कारण उन्हें भिन्न प्रकार से देखता है। चित्त के न रहने पर भी वस्तुएँ

रहती हैं। उनका अभाव नहीं हो जाता।

सूत्र—१७

तदुपरागापेक्षित्वाश्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्।

चित्तस्य=चित्त; **तदुपरागापेक्षित्वात्**=वस्तु के उपराग (अपने में उसका प्रतिबिम्ब पड़ने) की अपेक्षावाला है, इस कारण (उसके द्वारा); **वस्तु**=वस्तु; **ज्ञाताज्ञातम्**=कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है यह सर्वथा उचित है।

अनुवाद—*विषय का चित्त पर प्रतिबिम्ब पड़ने से वस्तु का ज्ञान होता है। उपराग (प्रतिबिम्ब) न होने से ज्ञान भी नहीं होता।*

व्याख्या—वस्तु का चित्त से भिन्न होने के कारण जब किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब इन्द्रियों के माध्यम से चित्त पर पड़ता है तभी वे दिखाई देती हैं। यदि यह बिम्ब न पड़े तो उस चित्त को वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता चाहे वह वस्तु सामने विद्यमान ही क्यों न हो किन्तु दूसरे व्यक्ति को उसका ज्ञान हो जाता है क्योंकि दोनों चित्त भिन्न हैं। तथा चित्त के विलीन होने से वस्तुओं का अभाव नहीं हो जाता। जिस प्रकार स्त्री पुरुष का संयोग सन्तान को जन्म देता है किन्तु उनके न रहने पर भी सन्तान रहेगी ही।

सूत्र—१८

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयःस्तत्प्रभोःपुरुषस्यापरिणामित्वात्।

तत्प्रभोः=उस (चित्त) का स्वामी; **पुरुषस्य**=पुरुष; **अपरिणा-मित्वात्**=परिणामी नहीं है, इसलिये; **चित्तवृत्तयः**=चित्त की वृत्तियाँ (उसे); **सदा ज्ञाताः**=सदा ज्ञात रहती हैं।

अनुवाद—*उस चित्त का स्वामी पुरुष (आत्मा) परिणामी नहीं है इसलिए चित्त की वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती हैं।*

व्याख्या—चित्त परिणामी है इसलिए जिसका बिंब उस पर पड़ता है वह उसी को देखता है अन्य को नहीं, तथा जिसे वह देखना चाहता है उसी को देखता है अन्य को नहीं देखता किंतु इस चित्त का स्वामी 'पुरुष' (आत्मा) परिणामी नहीं है इसलिए वह चित्त की सभी वृत्तियों को निरन्तर देखता रहता है। इसलिए उसे दृष्टा कहा जाता है तथा यह समस्त प्रकृति दृश्य है। चित्त की कौन सी प्रवृत्ति उदय हो रही है तथा कौन सी शान्त हो चुकी है वह सब देखता है। इसलिए आत्मज्ञानी को प्रकृति की समस्त क्रियाओं का ज्ञान हो जाता है।

सूत्र—१९

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्।

तत्=वह (चित्त); **स्वाभासम्**=स्वप्रकाश (प्रकाशस्वरूप); **न**=नहीं है; **दृश्यत्वात्**=क्योंकि वह दृश्य है।

अनुवाद— *वह चित्त स्वप्रकाश नहीं है क्योंकि वह दृश्य है।*

व्याख्या—चित्त जड़ है। वह आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है। वह स्वयं प्रकाशयुक्त नहीं है। सृष्टि के समस्त पदार्थ जड़ हैं किन्तु उनमें वह पुरुष तत्व विद्यमान है जिससे उनमें चेतनता एवं प्रकाश है। उसी के प्रकाश से ये जड़ भी चेतन जैसे प्रतीत होते हैं। ऐसा चित्त पुरुष के संयोग से ही चेतन जैसा ज्ञात होता है। यह शरीर, इन्द्रियाँ, चित्त आदि में ज्ञान शक्ति उस आत्मा (पुरुष) के ही कारण है। ये दृश्य होने से स्वप्रकाश नहीं है। इसलिए यह देखने वाला चित्त स्वयं नहीं देखता, आत्मा का प्रकाश लेकर देखता है।

सूत्र—२०

एक समये चोभयानवधारणम्।

च=तथा; **एकसमये**=एक काल में; **उभयानवधारणम्**=(चित्त

और उसका विषय)—इन दोनों के स्वरूप को जानना भी नहीं हो सकता।

अनुवाद*— तथा एक समय में चित्त और विषय का ग्रहण नहीं हो सकता।*

व्याख्या—यह चित्त स्वयं दृष्टा नहीं है। दृष्टा तो आत्मा ही है। बाह्य पदार्थो का चित्त पर प्रतिबिम्ब पड़ता है तब उस दृष्टा पुरुष को चित्त तथा विषय दोनों का ज्ञान होता है क्योंकि पुरुष अपरिणामी है। चित्त परिणाम शील होने से वह स्वयं को नहीं देख सकता। वह चेतना के प्रकाश से वस्तुओं को ही देख सकता है। जिस प्रकार आँख वस्तुओं को देखती है तो स्वयं को नहीं देख सकती। चित्त का कार्य बाह्य पदार्थ के स्वरूप को आत्मा के सामने रख देना मात्र है। जानने का कार्य उस पुरुष (आत्मा) का ही है। चित्त स्वयं देखने वाला नहीं है। यह आत्मा चित्त के माध्यम से ही बाह्य पदार्थो को देखता है। जब तक यह बाह्य पदार्थो को देखता है तब तक यह स्वयं को नहीं देख सकता। वे दोनों कार्य इससे एक समय में नहीं हो सकते। जब यह बाह्य पदार्थो को देखना बन्द कर देता है तभी यह स्वयं को देख सकता है। इसलिए चित्त को जानने के लिए बाह्य पदार्थो से दृष्टि हटाकर चित्त में ही केन्द्रित करनी पड़ती है तभी इसके वास्तविक स्वरूप को देखा जा सकता है। ध्यान की गहराई में ही इसे देखा जा सकता है।

सूत्र—२१

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंग स्मृतिसंकरश्च।

चित्तान्तरदृश्ये=एक चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मान लेने पर; **बुद्धिबुद्धेः अतिप्रसङ्गः**=वह चित्त फिर दूसरे चित्त का दृश्य होगा—इस प्रकार अनावस्था प्राप्त होगी; **च**=और; **स्मृतिसंकरः**=स्मृति का भी मिश्रण हो जाएगा।

अनुवाद— *एक चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मान लेने पर वह चित्त फिर दूसरे चित्त का दृश्य होगा इस प्रकार अनावस्था प्राप्त होगी और स्मृति का भी मिश्रण हो जाएगा।*

व्याख्या—यदि चित्त को दृष्टा मान लिया जाए तो वह दूसरे के चित्त को भी देख सकता है तथा उस चित्त द्वारा देखे गये पदार्थ को भी देखता है साथ ही स्वयं भी उस पदार्थ को देखता है तो इस प्रकार देखने से उस वस्तु का सत्य स्वरूप उसे कभी भी ज्ञात नहीं हो सकता क्योंकि चित्त वस्तु के सत्य स्वरूप को नहीं देखता। वह उसे अपनी वृत्तियों के अनुसार देखता है। इसलिए एक ही वस्तु को दो चित्त देखें तो उसमें स्मृति का मिश्रण हो जाएगा कि इसे मैंने देखा है अथवा दूसरे ने। इससे अनावस्था दोष भी आ जाता है कि वस्तु का सत्य स्वरूप क्या है? यह ज्ञात ही नहीं होगा। इसलिए चित्त को दृष्टा न मानकर उस पुरुष को ही दृष्टा मानना उचित है। यह इस तर्क से भी सिद्ध होता है कि चित्त दृष्टा नहीं है। यदि चित्त स्वयं दृष्टा है तो इसे किसके द्वारा देखा जा सकता है? जो दिखाई देता है वह स्वयं दृष्टा नहीं हो सकता। जब इस चित्त को भी देखा जा सकता है तो यह दृश्य ही हुआ। जब यह दृश्य है तो फिर देखने वाला इससे भिन्न कोई दूसरा ही हुआ जो इसे भी देखता है। इससे यही सिद्ध होता है कि यह चित्त दृष्टा नहीं है बल्कि वह चेतन पुरुष ही दृष्टा है।

सूत्र—२२

चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारपत्तौ स्वबुद्धि संवेदनम्।

चितेः अप्रतिसंक्रमायाः=यद्यपि चेतन-शक्ति (पुरुष) क्रिया से रहित और असंग है, तो भी; **तदाकारपत्तौ**=तदाकार हो जाने पर; **स्वबुद्धिसंवेदनम्**=(उसे) अपनी बुद्धि का (चित्त का) ज्ञान होता है।

अनुवाद— यद्यपि चेतन शक्ति (आत्म-पुरुष) क्रिया से रहित और असंग हैं तो भी तदाकार हो जाने पर उसे अपनी बुद्धि (चित्त) का ज्ञान होता है।

व्याख्या—यह चेतन शक्ति (आत्मा) यद्यपि क्रिया से रहित असंग, निर्विकार तथा अपरिणामी है, वह न कर्ता है न भोक्ता, केवल दृष्टा मात्र है किन्तु चित्त के साथ तदाकार होने से उसे चित्त सहित उसकी वृत्तियों का ज्ञान होता है इसलिए उसे कर्ता और भोक्ता कहा जाता है। चित्त के साथ संयुक्त होने से उसे 'जीवात्मा' कहा जाता है तथा इसी के कारण उसे चित्त का ज्ञान होता है इसलिए उसे 'ज्ञाता' कहा जाता है।

सूत्र—२३

दृष्टदृश्योपरक्तं चित्तंसर्वार्थम्।

द्रष्टृदृश्योपरक्तम्=द्रष्टा और दृश्य—इन दोनों से रँगा हुआ; **चित्तम्**=चित्त; **सर्वार्थम्**=सब अर्थवाला हो जाता है।

अनुवाद— दृष्टा और दृश्य इन दोनों से रंगा हुआ चित्त सब अर्थवाला हो जाता है।

व्याख्या—चित्त स्वयं दृश्य है किन्तु वह दृष्टा (आत्मा) के संयोग से स्वयं अन्य पदार्थो का दृष्टा हो जाता है। यह चित्त दोनों से रंगा हुआ है। यह आत्मा के लिए दृश्य है तो आत्मा के साथ होकर स्वयं अन्य पदार्थो का दृष्टा बन जाता है तथा अपना निजी स्वरूप भी वर्तमान रहता है। इस प्रकार यह सब रूप वाला हो जाता है। इसका स्वयं का स्वरूप तीन गुणों से युक्त सात्विक, क्रियाशील, परिणामी तथा जड़ है। पदार्थ के सम्पर्क से यह दृष्टा भी बन जाता है जबकि यह पदार्थ और चेतन से भिन्न है। योगी को समाधि में ही इसकी भिन्नता का अनुभव होता है। जिस प्रकार हम कहते हैं कि हमें पदार्थ आँख से दिखाई देते हैं व आँख न रहने पर वे दिखाई नहीं देते। इसी भ्रम के कारण हम आँख को दृष्टा

नहीं कह सकते क्योंकि आँख जड़ है। जड़ पदार्थ में देखने की शक्ति नहीं है। इसलिए वह दृष्टा नहीं हो सकता, दृश्य ही हो सकता है। आँख में जो देखने की शक्ति है व चित्त के कारण है जो अपनी वृत्तियों के अनुसार पदार्थ को देखता है किन्तु चित्त भी जड़ है जो आत्मा की ज्योति से ही दृष्टा बन जाता है जैसे आँख। इस चित्त की भी आत्मा (पुरुष) ही देखता है तथा इसका दृष्टापन भी आत्मशक्ति के कारण है। यह माध्यम मात्र है।

सूत्र—२४

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।

तत्=वह (चित्त); **असंख्येयवासनाभिः**=असंख्येय वासनाओं से; **चित्रम् अपि**=चित्रित होने पर भी; **परार्थम्**=दूसरे के लिये है; **संहत्यकारित्वात्**=क्योंकि यह संहत्यकारी (मिल-जुलकर कार्य करनेवाला) है।

अनुवाद— *वह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी दूसरों के लिए है क्योंकि वह मिल जुलकर कार्य करने वाला है।*

व्याख्या—यह चित्त तीन गुणों से बना है जिसमें वासनाएँ हैं किन्तु इसका कार्य बाह्य पदार्थ तथा इन्द्रियों के सहयोग से सम्पन्न होता है तथा आत्मा के कारण स्वयं दृष्टा भी बन जाता है। इस प्रकार यह इन सबसे मिल जुलकर कार्य करने वाला है। वह अकेला कुछ भी नहीं कर सकता तथा इसका सम्पूर्ण कार्य अपने स्वामी पुरुष के लिए ही है। अपने स्वयं के लिए नहीं है। इसका अर्थ है कि इस सम्पूर्ण सृष्टि की योजना ईश्वर के ही अधीन है। वही इसका संचालन एवं नियन्त्रण करने वाला है। इस योजना को पूर्ण करने के लिए उसने प्रकृति को माध्यम बनाया है। अतः इस प्रकृति चित्त का कार्य परार्थ है। स्वयं के लिए नहीं है। इस चित्त का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, न यह स्वतन्त्र रूप से

अपनी इच्छानुसार कोई कार्य कर सकता है। यदि यह स्वतन्त्र होकर कार्य करने लगे तो सबके चित्त भिन्न-भिन्न होने से उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हो जायेंगे जिससे सृष्टि में कोई व्यवस्था व अनुशासन, नियम, संयम कुछ भी नहीं रह सकता। किन्तु सृष्टि में इतनी सुव्यवस्था है जिसका एकमात्र कारण यह सृष्टि ईश्वराधीन है। वह ईश्वर की ही योजना व नियम के अनुसार चल रही है जिसका उल्लंघन कोई भी नहीं कर सकता। यह चित्त भी उसी के नियन्त्रण व अनुशासक में, उसी की मर्यादा का पालन करते हुए उतना ही कार्य करता है जितना उसे सौंपा गया है। इसके सभी कार्य अपने स्वामी पुरुष के लिए ही हैं, स्वयं के लिए नहीं हैं।

सूत्र—२५

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः।

विशेषदर्शिनः=(समाधिजनित विवेक ज्ञान के द्वारा) चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष कर लेनेवाले (योगी) की; **आत्मभाव-भावनाविनिवृत्तिः**=आत्मभावविषयक भावना सर्वथा निवृत्त हो जाती है।

अनुवाद— समाधि जनित विवेक ज्ञान के द्वारा चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष कर लेने वाले योगी की आत्मभाव विषयक भावना सर्वथा निवृत्त हो जाती है।

व्याख्या—भक्ति का उद्देश्य है परमात्मा की प्राप्ति तथा योग का उद्देश्य है स्वयं को जानना। स्वयं के भीतर जो पुरुष (आत्मा) है उसको पा लेना। साधना काल में वह इस आत्माभाव की भावना करता है कि वह क्या है, उसे कैसे पाया जाए। 'मैं कौन हूँ' का प्रश्न उसके सामने सदा बना रहता है। किन्तु समाधि अवस्था में जब उसका विवेक ज्ञान प्रकट हो जाता है तो वह इस चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष

कर लेता है अर्थात् वह प्रकृति और पुरुष की भिन्न-भिन्न क्रियाओं को जान लेता है जिससे उसे इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना ज्ञात हो जाती है। इसी के जान लेने से उसे 'मैं कौन हूँ' का उत्तर भी प्रत्यक्ष हो जाता है जिससे वह फिर आत्म-भाव के विषय के चिन्तन से मुक्त हो जाता है। उसे फिर किसी प्रकार का भ्रम या शंका नहीं रहती।

सूत्र—२६

तदा विवेकानिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।

तदा=उस समय (योगी का); **चित्तम्**=चित्त; **विवेक-निम्नम्**=विवेक में झुका हुआ; **कैवल्यप्राग्भारम्**=कैवल्य के अभिमुख हो जाता है।

अनुवाद— उस समय योगी का चित्त विवेक में झुका हुआ और कैवल्य के अभिमुख हो जाता है।

व्याख्या—'चित्त' संसार और आत्मा के बीज का सेतु है उसके एक ओर संसार है जो उसकी वासना पूर्ति का साधन है तथा दूसरी ओर वह दृष्टा (आत्मा) है जो इस सारे खेल को देख रहा है। यह चेतन आत्मा इतनी सूक्ष्म है कि वह इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकती इसलिए प्रकृति ही सर्वत्र दिखाई देती है। जब योगी को समाधि अवस्था में इस प्रकृति और पुरुष का भेद स्पष्ट हो जाता है तो वह निज स्वरूप आत्मा की ओर अभिमुख होता है क्योंकि उसे प्राप्त कर लेना तथा प्रकृति को अपने से सदा के लिए विदा कर देना ही उसकी कैवल्य अवस्था है। इस स्थिति में प्रकृति का नाश नहीं होता बल्कि उसके रहते हुए भी वह उससे प्रभावित नहीं होता। वह प्रकृति के दास से उसका स्वामी बन जाता है। प्रकृति के प्रभाव से वह विषयों की ओर आकर्षित होता था वह छूटकर आत्मानन्द की ओर अभिमुख होता है। इससे प्रकृति का कोई कार्य शेष न रह जाने से वह अपने कारण में विलीन होने

लगती है तथा योगी अपने इस दृष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है।

सूत्र—२७

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।

तच्छिद्रेषु=उस (समाधि) के अन्तराल में; **प्रत्ययान्तराणि**=दूसरे पदार्थों का ज्ञान; **संस्कारेभ्यः**=पूर्व संस्कारों से होता है।

अनुवाद— *उस समाधि के अन्तराल में दूसरे पदार्थों का ज्ञान पूर्व-संस्कारों से होता है।*

व्याख्या—सबीज समाधि के पश्चात् जब योगी निर्बीज समाधि में जाता है तो उसकी पूर्ण सिद्धि से पूर्व उस समाधि अवस्था में पूर्व संस्कार बीज रूप में विद्यमान रहते हैं जिससे योगी को उनकी स्मृति मात्र रहती है। किन्तु वह उनसे प्रभावित होकर कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। इस अवस्था में तीनों बातें एक साथ होती हैं। चित्त का लय होना आरम्भ हो जाता है, पूर्व संस्कार भी स्मृति में आते रहते हैं तथा योगी की अपनी आत्मा में स्थिति दृढ़ होती जाती है।

सूत्र—२८

हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।

एषाम्=इन संस्कारों का; **हानम्**=विनाश; **क्लेशवत्**=क्लेशों की भाँति; **उक्तम्**=कहा गया है।

अनुवाद— *उन संस्कारों का विनाश क्लेशों की भाँति कहा गया है।*

व्याख्या—साधनपाद में तीसरे सूत्र में जो पाँच प्रकार के क्लेश बताये हैं उनमें अभिनिवेष (मृत्यु भय) भी है। इस निर्बीज समाधि की सिद्धि में पूर्व के अनेक जन्म के संस्कार जिस चित्त में विद्यमान है उस चित्त का समस्त संस्कारों रहित अपने कारण में विलीन होना भी इसका

मृत्यु ही है। यह भी अभिनिवेश की भाँति का ही क्लेश है। इस समय इन संस्कारों का बीज यद्यपि प्रभावहीन कर दिया गया है किन्तु अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर वह पुनः वृक्ष बन सकता है। चित्त के वर्तमान रहते उन संस्कारों के बीज का सर्वथा अभाव नहीं होता। उसका अभाव तो चित्त के अपने कारण (तीनों गुणों) में विलीन होने से ही होता है। इस चित्त का लय होना उसकी मृत्यु जैसा ही है इसलिए इसे भी 'क्लेश' ही कहा गया है किन्तु इस क्लेश का परिणाम मधुर है, अन्य क्लेशों की भाँति कटु नहीं है। इसे 'महामृत्यु' कहा जाता है।

सूत्र—२९

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

प्रसंख्याने अपि अकुसीदस्य=जिस योगी का विवेक ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है, उसका; **सर्वथा विवेकख्यातेः**= विवेकज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उसको; **धर्ममेघः समाधिः**=धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है।

अनुवाद— *जिस योगी का विवेक ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है उसका विवेक ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उसको धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है।*

व्याख्या—निर्बीज समाधि की स्थिति में योगी में विवेक ज्ञान का प्रकाश होता है जिसमें सभी कुछ स्पष्ट ज्ञान हो जाता है जिससे वह योगी सर्वज्ञ बन जाता है। यह उसकी अन्तिम सिद्धि है। यदि वह इससे प्रभावित होकर इसका उपयोग करने लग जाता है तो वह इस समस्त साधना के अंतिम फल (कैवल्य) से वंचित रह जाता है। इसलिए कैवल्य प्राप्ति हेतु उसे इस विवेक ज्ञान की महिमा में वैराग्य कर लेना चाहिए जिससे उसे यह अन्तिम सिद्धि प्राप्त हो सके। यह विवेक ज्ञान महिमा भी कैवल्य में विघ्न स्वरूप ही है। इस विघ्न को पार करने पर

उसे 'धर्ममेघ समाधि' प्राप्त होती है।

सूत्र—३०

ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः।

ततः=उस (धर्ममेघ समाधि) से; **क्लेशकर्मनिवृत्तिः**=क्लेश और कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।

अनुवाद— *उस धर्ममेघ समाधि से क्लेश और कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।*

व्याख्या—जिस योगी को यह 'धर्ममेघ समाधि' प्राप्त हो जाती है उसके समस्त क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) नष्ट हो जाते हैं तथा कर्म संस्कारों का अनेक जन्मों का समुदाय अपने बीज सहित नष्ट हो जाता है। चित्त में ये संस्कार संग्रहीत रहते हैं जो उसका भोजन है तथा उस की वासना तृप्ति का साधन है जिनके नष्ट होने से वह पंखहीन पक्षी की भाँति हो जाता है जिससे वह असहाय होकर अपने कारण में विलीन होने लगता है यही जीव की अन्तिम मृत्यु 'महापरिनिर्वाण' है। इस अवस्था को प्राप्त योगी का सम्बन्ध सदा के लिए इस सृष्टि से छूट जाता है। फिर वह न सिद्ध लोक में रहता है न सिद्ध शिला पर। यही उसका कैवल्य अथवा मोक्ष है। इसके बाद ही धर्मरूप हजारों धाराओं की वर्षा होती है इसलिए इसे 'धर्ममेघ' कहते हैं।

सूत्र—३१

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।

तदा=उस समय; **सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य**=जिसके सब प्रकार के परदे और मल हट चुके हैं, ऐसा ज्ञान; **आनन्त्यात्**=अनन्त (सीमारहित) हो जाता है, इस कारण; **ज्ञेयम् अल्पम्**=ज्ञेय पदार्थ

अल्प हो जाते हैं।

अनुवाद— उस समय जिसके सब प्रकार के परदे और मल हट चुके हैं ऐसा ज्ञान अनन्त (सीमा रहित) हो जाता है। इस कारण ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाते हैं।

व्याख्या—चित्त की अपनी सीमा है। वह शरीर के साथ बंधा है। कर्म संस्कार, वासनाओं आदि के कारण उसका क्षेत्र इतना सीमित हो जाता है कि वह शरीर, मन, बुद्धि, वासना आदि के बाहर देख ही नहीं सकता। उसका ज्ञान भी इसी कारण सीमित हो जाता है। स्वार्थ, मोह, भोग, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, तृष्णा आदि के घेरे में ही घूमता हुआ वह घाणी के बैल की भाँति हो जाता है किन्तु आत्मा अनन्त है, असीम है तथा सभी प्रकार के बन्धनों से सदा मुक्त है। इसलिए जब योगी इस चित्त के बन्धन को तोड़कर उसका अपने गुणों में लयकर देता है तो वह अपने आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है जिससे उसका अहं निर्मित संकीर्ण चित्त का दायरा समाप्त होकर एक अनन्त, विशाल, असीम आत्म सागर का अंग बन जाता है। उसके सभी प्रकार के अविद्या जनित मल धुल जाते हैं जो उसके आत्म स्वरूप होने में बाधक थे। आत्मवत् हो जाने से उसका ज्ञान भी अनन्त (सीमा रहित) हो जाता है। इस कारण उसका अब तक का ज्ञान तथा ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाते हैं। यह सारा धर्ममेघ समाधि में होता है। ऐसे योगी को कोई भी तत्व अज्ञात नहीं रहता। यही उसका वास्तविक स्वरूप है जिसमें वह सीमित को खोकर असीम हो जाता है। सब कुछ छूटने पर शून्यावस्था आती है तथा आत्म स्वरूप हो जाना ही उसकी पूर्णता है।

सूत्र—३२

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।

ततः=उसके बाद; **कृतार्थानाम्**=अपने काम को पूरा कर

चुकनेवाले; **गुणानाम्**=गुणों के; **परिणामक्रमसमाप्तिः**=परिणामक्रम (परिणाम सम्बन्धी सिलसिले की) समाप्ति हो जाती है।

अनुवाद— *उसके बाद अपने काम को पूरा कर चुकने वाले गुणों के परिणाम सम्बन्धी क्रम की समाप्ति हो जाती है।*

व्याख्या—इस धर्ममेध समाधि के बाद गुणों का कोई कार्य शेष नहीं रह जाता। उनका कार्य समाप्त हो जाने से उनका परिणाम सम्बन्धी क्रम समाप्त हो जाता है। अपने क्रियाशील गुण के कारण इनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है तथा इसी परिवर्तन के परिणाम स्वरूप अनेक रूपों का निर्माण होता है। यही इनका परिणाम क्रम है। इसके समाप्त हो जाने से ये भावी शरीर का निर्माण नहीं कर सकते। इसलिए वह योगी जीवन मृत्यु के चक्र से बाहर हो जाता है।

सूत्र—३३

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः।

क्षणप्रतियोगी=जो क्षणों का प्रतियोगी है, (और); **परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः**=जिसका स्वरूप परिणाम के अन्त में समझ में आता है, वह; **क्रमः**=क्रम है।

अनुवाद— *प्रतिक्षण होने वाले परिणामों के पश्चात् ग्रहण करने योग्य ज्ञान को 'क्रम' कहते हैं।*

व्याख्या—इस सूत्र में क्रम की व्याख्या की गई है। सृष्टि में जो भी पदार्थ दिखाई देते हैं वे किसी मूल स्वरूप का ही परिवर्तित रूप है। इनमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है तथा भविष्य में इनका स्वरूप भिन्न प्रकार का होगा। यह परिवर्तन भिन्न प्रकार के गुणों वाली वस्तुओं की क्रिया प्रतिक्रिया स्वरूप तथा समय के अनुसार होता है। प्रकृति की स्थूल वस्तुओं में भूकम्प, ज्वालामुखी, वर्षा, बाढ़, आंधी, तूफान आदि प्राकृतिक शक्तियों के कारण आकस्मिक परिवर्तन भी होता है जिससे

एक क्षण में पृथ्वी के भू-भाग में भारी परिवर्तन हो जाता है किन्तु वस्तुओं के गुणों में परिवर्तन धीमे-धीमे होता है जिसे एक क्षण में इसे पहचाना नहीं जा सकता—जैसे बचपन, जबानी, बुढ़ापा धातुओं में पारस्परिक परिवर्तन आदि। इन्हें अन्तिम परिणाम के आधार पर ही पहचाना जा सकता है। वैज्ञानिक इसी आधार पर पृथ्वी, चट्टानें, स्थापत्य कलाएँ, भवन आदि की आयु का निर्धारण करते हैं। इसीलिए वस्तुओं के परिवर्तन स्वरूप जो परिणाम होते हैं उसी को 'क्रम' कहा जाता है। किन्तु इस परिणाम का सम्बन्ध प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन से है। इस प्रकार क्षणों (काल) के प्रवाह से उस वस्तु के पूर्व स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही 'क्रम' है। इसी 'क्रम' के ज्ञान के आधार पर तत्ववेत्ता पदार्थो के मूल स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

सूत्र—३४

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।

पुरुषार्थशून्यानाम्=जिनका पुरुष के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे; **गुणानाम्**=गुणों का; **प्रतिप्रसवः**=अपने कारण में विलीन हो जाना; **कैवल्यम्**=कैवल्य है; **वा**=अथवा; **इति**=यों कहिये कि; **चितिशक्तेः**=द्रष्टाका; **स्वरूपप्रतिष्ठा**=अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना (कैवल्य) है।

अनुवाद— *पुरुषार्थ शून्य गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना 'कैवल्य' है अथवा यों कहिए कि चित्त शक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना 'कैवल्य' है।*

व्याख्या—प्रसार और संकोच सृष्टि का नियम है। आरम्भ में इस सृष्टि का मूल स्वरूप अव्यक्त था। यह त्रिगुणात्मक था। इन तीन गुणों के साथ चेतन तत्व का संयोग होने से उस में क्रिया, हलचल, आरम्भ

हुई जिसके परिणाम स्वरूप इसमें परिवर्तन आना आरम्भ हुआ तथा इनकी परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया स्वरूप रूपों के बनने का क्रम आरम्भ हुआ जिससे सृष्टि का विस्तार होता चला गया। इसी विस्तार को गुणों का क्रम कहा जाता है जो प्रतिक्षण होता रहता है। सृष्टि का विस्तार काल के अनुसार क्रमिक, सुनियोजित एवं सुसम्बद्ध रूप से हो रहा है इसलिए इसमें एक साम्य एवं सुव्यवस्था है। वह मूल तत्व जो इस समस्त विस्तार का कारण है उसे 'ब्रह्म' कहा जाता है। ब्रह्म का अर्थ ही फैलना है। विज्ञान भी यह मानने लगा है कि यह सृष्टि फैलती ही जा रही है। जिस प्रकार फुग्गे को फुलाया जाता है उसी प्रकार उसका फैलना जारी है। किन्तु इसके फैलने की भी एक सीमा है जिसके बाद इसमें पुनः संकोच आरम्भ होगा। यह ब्रह्मांड फैलता जा रहा है। एक सीमा के बाद इसमें पुनः संकोच की प्रक्रिया आरम्भ होगी एवं वह अपने मूल स्वरूप में आ जाएगा। योग भी यही कहता है कि इन गुणों में समय के अनुसार क्रमिक परिवर्तन होता है जिसे सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया कहते हैं। इसी से सृष्टि का निरन्तर विकास हो रहा है तथा जब यह क्रम बन्द हो जाता है तो सृष्टि पुनः सिमटकर अपने मूल स्वरूप में आ जाती है। इसके बाद पुनः नई सृष्टि का क्रम आरम्भ होता है। योग की यह मान्यता आज वैज्ञानिकों द्वारा भी पुष्ट हो रही है।

योगी जब अपने भीतर के इस विस्तार क्रम को रोक देता है तो उसकी समस्त वृत्तियाँ सिमटकर चित्त में विलीन हो जाती हैं। यह चित्त वासना एवं अपनी क्रिया शक्ति के गुण के द्वारा चेतन से संयुक्त होकर विस्तार को प्राप्त होता हैं। यह सारा अविद्या के कारण होता है। जब योगी इसको तथा चेतन आत्मा को भिन्न-भिन्न भली प्रकार से जान लेता है तो उस अविद्या का नाश हो जाता है जिससे प्रकृति और पुरुष का संयोग हुआ था। इस अविद्या नाश से ये तीनों गुण पुरुषार्थ हीन हो जाते हैं क्योंकि चेतना के बिना यह जड़ प्रकृति निष्क्रिय ही है। इस स्थिति में

यह चित्त अपने गुणों में विलीन हो जाता है अर्थात वह प्रभावहीन हो जाता है। जब प्रकृति तत्व उस योगी से पृथक हो जाता है तो शुद्ध चैतन्य आत्मा ही शेष रह जाती है तथा वह अपने इसी स्वरूप में नित्य स्थित रहता है। यही उसका वास्तविक स्वरूप है जिसे वह प्राप्त कर लेता है। फिर उसका न कोई जन्म है न मृत्यु। वह सदा के लिए ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। यही उसका 'कैवल्य' अथवा 'मोक्ष' है। जहाँ से आया था वहीं पुनः पहुँच गया, 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गीता १५/६)।

सृष्टि की गति वृत्ताकार है इसलिए जहाँ से आरम्भ हुआ था वहाँ पुनः पहुँच जाने से ही वृत्त पूरा होता है। सृष्टि की यह समस्त गति वृत्त की परिधि पर थीं। केन्द्र पर पहुँच जाने पर समस्त गतियाँ समाप्त हो जाती हैं। तथा वह स्थिर अवस्था में आकर दृष्टा मात्र रह जाता है। यही कैवल्यावस्था, ईश्वर का धाम, जगती का केन्द्र है। भिन्न वर्णन एवं नाम देने से उसका स्वरूप नहीं बदल जाता।

यही चित्त वृत्ति निरोध, परमपद तथा परमानन्द की अवस्था है।

॥ इति कैवल्य पादः॥

॥ महर्षि पतंजलि कृत—पातंजल योग सूत्रः योगदर्शनम् सम्पूर्णम्॥

पातंजल योगसूत्र की वर्णानुक्रमणिका

(त)

(ह)